आप भासता है और घन सुषुप्तरूप हो जाता है। जैसे पत्थर की शिला में पोल नहीं होती, वैसे ही वह दृश्य से रहित घन सुषुप्त उसका रूप होता है। तब वह नमक के सदृश रसमय ब्रह्म हो जाता है। जैसे आकाश में शब्द लीन हो जाता है, वैसे ही वह चित्त आत्मा में लीन हो जाता है, और जैसे वायु गति-रहित अचल होती है, वैसे ही चित्त अचल हो जाता है। जैसे गन्ध पुष्प में स्थित होती है, वैसे ही चित्त-वृत्ति आत्मतत्त्व में विश्राम पाती है। वह आत्मसत्ता न जड़ है, न चेतन। वह सब कल्पनाओं से रहित, अचैत्य, चिन्मात्र, बीजरूप, सब सत्ताओं को धारण करनेवाली और देश-काल के परिच्छेद से रहित है। जिसको वह प्राप्त होती है, उसको तुरीयपद भी कहते हैं। वह सब दुःख और कलङ्क से रहित पद है। उस सत्ता को पाकर जीव साक्षी की नाईं स्थित होता है और सर्वत्र, सर्वदा सम होता है। वही सर्वप्रकाश और शान्तिरूप है। जिसको आत्मतत्त्व से उस आत्म-सत्ता का अनुभव होता है, उसको द्वितीय पद प्राप्त होता है। हे मुनीश्वर! यह द्वितीय पद भी तुझसे कहा, अब तृतीय पद सुन।

जब आत्मतत्त्व में वृत्ति की अत्यन्त परिणति होती है, तब ब्रह्म, आत्मा आदि नामों की भी निवृत्ति हो जाती है, भाव-अभाव की कोई कल्पना नहीं चेतती। तब स्थान की नाईं अचल-वृत्ति होकर परम शान्त और निष्कलङ्क सबसे परे परम तुरीयातीतपद को प्राप्त होता है। वह सबका अन्त, सबका आधाररूप, एक, अद्वैत, नित्य, चिन्मात्र-तत्त्व तुरीया से भी आगे है। उसमें वाणी की गति नहीं। हे मुनीश्वर! यह सर्वकल्पना-रहित अतीतपद जो मैंने तुमसे कहा, उसमें स्थित हो। वही सनातन देव है और विश्व भी उसी का रूप है। वही तत्त्व संवेदन के वश हो ऐसे रूप में भासित होता है, पर वास्तव में न कुछ प्रवृत्त है और न कुछ निवृत्त है। आकाशरूप समसत्ता अद्वैततत्त्व अपने आप में स्थित और आकाशवत् निर्मल है। उसमें द्वैतभ्रम का अभाव है। एक चिद्घनसत्ता पाषाण की तरह अपने आप में स्थित है। उसमें और जगत् में रञ्चक भी भेद नहीं। जैसे जल और तरङ्ग में कुछ भेद नहीं

होता, वैसे ही ब्रह्म और जगत् में कुछ भेद नहीं। सम सत्ता शिव शान्ति रूप और अनिर्वचनीय है। इसकी चतुर्मात्रा तुरीयपद परमशान्त है।

इतना कह वाल्मीकिजी बोले, हे भारद्वाज! इस प्रकार जब ईश्वर ने कहा और परम शान्तिरूप आत्मतत्त्व का प्रसङ्ग वशिष्ठजी ने सुना, तब दोनों की वृत्ति आत्मतत्त्व में स्थित हो गई और वे मौन हो गये, मानो चित्र लिखे हों। एक मुहूर्त पर्यन्त दोनों के चित्त की वृत्ति ऐसी ही रही। फिर ईश्वर जागे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे ईश्वरोपाख्याने परमेश्वरोपदेशो नाम त्रयस्त्रिंशत्तमस्सर्गः ॥ ३३ ॥

वाल्मीकिजी बोले कि एक मुहूर्त उपरान्त सदाशिवजी ने तीनों नेत्र खोले तो जैसे पृथ्वीरूपी संपुट से सूर्य निकले वैसे ही उनके नेत्र निकले और जैसे द्वादश सूर्य का प्रकाश इकट्ठा हो, वैसे ही उनका प्रकाश हुआ। उन्होंने देखा कि वशिष्ठजी के नेत्र मुँदे हुए हैं। तब कहा कि हे मुनीश्वर! जागो, अब नेत्र क्यों मूँदे हो? जो कुछ देखना था सो तो तुमने देखा, अब समाधि लगाने का श्रम किस लिए करते हो? तुम सरीखे तत्त्ववेत्ताओं को कुछ हेय या उपादेय नहीं होता। तुम जैसे बुद्धिमान् हो, वैसे ही आत्मदर्शी भी। जो कुछ पाने योग्य था, सो तुमने पाया और जानने योग्य जाना। बालकों के बोध के निमित्त जो तुमने मुझसे पूछा था, सो मैंने कहा। अब तुम चुप क्यों हो?

हे राम! इस प्रकार कहकर सदाशिव ने मेरे भीतर प्रवेश करके चित्त की वृत्ति से जगाया और जब मैं जागा तब फिर ईश्वर ने कहा, हे वशिष्ठ! इस शरीर की क्रिया का कारण प्राणस्पन्दन है। प्राणों से ही शरीर की चेष्टा होती है। उसमें आत्मा उदासीन की तरह स्थित है। वह न कुछ करता है, न भोगता है। जब जीव को अपने स्वरूप का प्रमाद होता है, तब देह में अभिमान होता है और वह अपने को कर्ता और भोक्ता मानता है, इससे दुःख पाता और इस लोक-परलोक में भटकता है। जब आत्मविचार उपजता है, तब आत्मा का अभ्यास होता है; देहाभिमान मिट जाता है और दुःख से मुक्त होता है। शरीर

के नष्ट होने पर आत्मा का नाश नहीं होता। शरीर चेतन होकर प्राणों से चेतता है; जब प्राण निकल जाते हैं, तब शरीर मूक जड़रूप हो जाता है। चलाने और पवित्र करनेवाली जो संवित्शक्ति है, वह आकाश से भी सूक्ष्म है। वह शरीर का नाश होने पर नष्ट नहीं होती और जब नाश नहीं होती तब नाश का भ्रम कैसे हो? हे मुनीश्वर! आत्मतत्त्व ब्रह्मसत्ता सर्वत्र है, परन्तु वहीं भासित होती है जहाँ सात्त्विक गुण का अंश मन और प्राण होते हैं। मन और प्राणों सहित देह भासित होती है। जैसे निर्मल दर्पण में जब मुख का प्रतिबिम्ब दिखता है और आदर्श मलिन होता है, तब मुख विद्यमान भी होता है, परन्तु नहीं भासित होता, वैसे ही मन और प्राण जब देह में होते हैं, तब आत्मा भासित होती है और जब मन और प्राण निकल जाते हैं तब मलिन शरीर में आत्मसत्ता नहीं भासित होती। हे मुनीश्वर! आत्मसत्ता सब जगह पूर्ण है, परन्तु भासित नहीं होती। जब उसका अभ्यास होता है, तब सर्वात्मरूप होकर भासित होती है। वही सर्व-कलना से रहित शुद्ध शिवरूप सबकी सत्तारूप है। विष्णु, शिव, ब्रह्मा, देवता, अग्नि, वायु चन्द्रमा, सूर्यादिक सब जगत् का आदि-शरीर वही है। वह एक देव शुद्ध चैतन्यरूप सब देवों का देव है। सब उसके दास और उसके चित्त का उल्लास हैं।

हे मुनीश्वर! इस जगत् में ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र जो बड़े देवता हैं, वे उसी तत्त्व से प्रकट हुए हैं। जैसे अग्नि से चिनगारी उपजती हैं और समुद्र से तरङ्गे प्रकट होती हैं, वैसे ही हम उससे प्रकट हुए हैं। यह अविद्या भी उसी से प्रकट है और अनेक शाखाएँ उसकी हुई हैं। देव, अदेव, वेद और वेद के अर्थ और जीव, सब उस अविद्या की जटा है। ये अनन्त हैं, फिर-फिर उपजती और मिटती हैं। देश, काल, पृथिवी आदिक भी सब उसी से उत्पन्न हैं। वही सर्वसत्तारूप आत्मदेव है। हम ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र का परमपिता आत्मा ही है। सबका मूल बीज वही देव है, सब उससे उपजे हैं। जैसे वृक्ष से पत्ते उपजते हैं, वैसे ही सब उसी महादेव से उपजते हैं। सबका अनुभवकर्ता, सबको सत्ता देनेवाला

और सब प्रकाशों में प्रकाशक वही है। वह तत्त्ववेत्ताओं का पूज्य है, सबमें प्रत्यक्ष है और सर्वदा सब प्रकार सबमें उदित आकार चैतन्य अनुभवरूप है। उसके आवाहन में मन्त्र, आसन आदि सामग्री न चाहिए, क्योंकि वह सर्वदा अनुभवरूप से प्रत्यक्ष है और सब प्रकार सब जगह विद्यमान है। जहाँ-जहाँ उसके पाने का यत्न करिये, वहाँ-वहाँ पहले से ही विद्यमान है। वह शिवतत्त्व आदि से ही सिद्ध है और मन वाणी में तीनों रूपों से वही भासित होता है। वह सबका आदि पूज्य, नमस्कार करने और जानने योग्य है। हे मुनीश्वर ! जरा, मृत्यु, शोक और भय को मिटानेवाला ऐसा जो आत्मतत्त्व है, उसको जीव आपसे आप ही देखता है और उसका साक्षात्कार होने पर चित्त भूने बीज की नाईं हो जाता है, फिर उसमें कोई कर्मवासना नहीं उगती। वह शिवतत्त्व जीव का भी बीज है। सब पदों का पद वही है। अनुभवरूप आत्मा ही परम-पद है। भिन्नदृष्टि का त्याग करो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे ईश्वरोपाख्याने देवनिर्णयो नाम चतुस्त्रिंशत्तमस्सर्गः ॥ ३४ ॥

ईश्वर बोले, हे मुनीश्वर ! वह चितरूप तत्त्व सबके भीतर स्थित है। अनुभवरूप शुद्ध देव ईश्वर और सब बीजों का बीज वही है। सब सारों का सार, कर्मों का कर्म और धर्मों का धर्म, चैतन्यतत्त्व, निर्मल-रूप, सब कारणों का कारण और आप अपना कारण वही है। वह सब भाव और अभाव का प्रकाशक और परम प्रकाशरूप सब चेतनों की चैतन्यसत्ता है। वह भौतिक प्रकाश से रहित अलौकिक प्रकाश सब जीवों का जीव है। चैतन्य घन निर्मल आत्मा अस्ति-तन्मयरूप, सत्-असत् से रहित महासत्रूप है। सब सत्ताओं की सत्ता वही है। वही चिन्मात्रतत्त्व नानारूप हो रहा है। जैसे एक ही आत्मसत्ता स्वप्न में आकाश, स्कन्ध, पहाड़ आदि होकर भासित होती है। वैसे ही नाना रङ्ग-रूप से वही भासित होता है। जैसे सूर्य की किरणों में मरुस्थल की नदी अनेक कोटि किरणों से अनेक तरङ्ग संयुक्त जान पड़ती है, वैसे ही यह जगत् उसमें भासित होता है।

हे मुनीश्वर ! उसी आत्मतत्त्व का आभास यह प्रकाश है, उससे भिन्न कुछ नहीं। जैसे अग्नि से उष्णता भिन्न नहीं—वही है, वैसे ही आत्मा से जगत् भिन्न नहीं, वही है। सुमेरु भी उसके आगे परमाणुरूप है। सम्पूर्ण काल उसका एक निमेषरूप है। कल्प भी उसकी पलकों के निमेष और उन्मेष की तरह उदय और लय होते हैं। सप्त-समुद्र-संयुक्त पृथ्वी उसके रोम के अग्र भाग की तरह तुच्छ है। ऐसा वह देव है। वह संसार की रचना नहीं करता और कर्तृत्व को प्राप्त होता है। बड़े कर्मों को करता प्रतीत होता है, तो भी कुछ नहीं करता। द्रव्यरूप देख पड़ता है तो भी द्रव्य से रहित है। निर्द्रव्य होकर भी द्रव्यवान् है। देहधारी नहीं, तो भी देहधारी है और बड़ा देहधारी होकर भी अदेह है। सबकी सत्तारूप वही देव है। ठंढी, भोलि, घले, मतचुल, पिंढली, माँगले, बेल, विलिमिला, लोबलाग, युगुल, सभस इत्यादि वाक्य निरर्थक हैं, इनका अर्थ कुछ नहीं, तो भी उस देव से सिद्ध होते हैं। ऐसा कुछ नहीं, जो उस देव में असत् नहीं, और ऐसा भी कुछ नहीं, जो उस देव से सत् नहीं। हे मुनीश्वर ! जिससे यह सब है, जो यह सब है और सबमें नित्य है, उस सर्वात्मा को मेरा नमस्कार है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे महेश्वरवर्णनन्नाम
पञ्चत्रिंशत्तमस्सर्गः ॥ ३५ ॥

ईश्वर बोले, हे मुनीश्वर ! शब्द की सत्ता वही है। सर्वसत्ता रत्नों का संपुट वही है। वही तत्त्व चमत्कार करके प्रकट होता है। जैसे जल ही तरङ्ग, फेन बुलबुले आदि के आकार से देख पड़ता है, वैसे ही वह देव नाना प्रकार के आकार रखकर प्रकट होता है। वही फल और गुच्छे के रूप में स्थित होता है और वही उनमें सुगन्ध है। घ्राण इन्द्रिय में स्थित होकर आप ही उसे सूँघता है। आप ही त्वचा इन्द्रिय होता है। आप ही पवन होकर चलता है। आप ही ग्रहण करता है। आप ही जलरूप होता है। आप ही वायु होकर सुखाता है। आप ही श्रवणइन्द्रिय और आप ही शब्द होकर ग्रहण करता है। इसी प्रकार जिह्वा, त्वचा, नासिका कर्ण और नेत्र होकर आप ही स्पर्श, रूप, रस

गन्ध और शब्द को ग्रहण करता है। उसी ने सब पदार्थ रचे हैं। उसी ने नीति रची है। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, शिव और पञ्चम ईश्वर सदाशिव तक वही देव इस प्रकार हुआ है। आप ही साक्षी की तरह स्थित होता है। जैसे दीपक के प्रकाश से मन्दिर की सब क्रियाएँ होती हैं, वैसे ही संसाररूपी मण्डप की सब क्रियाएँ उसी साक्षी से होती हैं। उसमें उसकी शक्ति नृत्य करती है और वह आप साक्षीरूप होकर देखता है।

वशिष्ठजी बोले कि फिर मैंने पूछा, हे जगत् के नाथ! शिव की शक्ति क्या है, कैसे स्थित है? देव को साक्षात् कैसे करते हैं और उसका नृत्य कैसे होता है? ईश्वर बोले, हे मुनीश्वर! आत्मतत्त्व स्वभाव से अचल और शान्तरूप है। शिव परमात्मा निर्मल चिन्मात्ररूप और निराकार है। उसकी शक्ति इच्छा और काल, नीति, मोह, ज्ञान, क्रिया कर्तृत्व आदि शक्तियाँ हैं। उन शक्तियों का अन्त नहीं। वह अनन्त रूप चिन्मात्रदेव है। यह जो मैंने तुमसे शक्ति कही, वह भी शिवरूप है, भिन्न नहीं। शिव और शक्ति एकरूप हैं, और बहुत भासित होते हैं। जैसे पदार्थों में अर्थ-शक्ति और आत्मा में साक्षी-शक्ति कल्पित है, वैसे ही कालशक्ति नर्तक की नाईं ब्रह्माण्डरूपी नृत्यमण्डल में नृत्य करती है। क्रिया-शक्ति भी कर्तृत्व से नृत्य करती है। वही शक्ति कहाती है। जैसे आदि नीति हुई है, ब्रह्मा से लेकर तृण तक वैसे ही स्थित है—अन्यथा नहीं होती। हे मुनीश्वर! यह सम्पूर्ण जगत् नृत्य करता है। संसाररूपी नटिनी की प्रेरणा करनेवाली नीति है और परमेश्वर परमात्मा साक्षीरूप है। वह सदा उदित प्रकाशरूप और एकरस स्थित है। नीति आदिक शक्तियाँ भी उससे भिन्न नहीं। वे उसी का रूप हैं—इससे सब कुछ देव ही जानो, द्वैत नहीं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे ईश्वरोपाख्याने नीति-
नृत्यवर्णनन्नाम षट्त्रिंशत्तमस्सर्गः ॥ ३६ ॥

ईश्वर बोले, हे मुनीश्वर! उसी एक देव परमात्मा की साधु-सन्त-भक्त-पूजा करते हैं। वह चिन्मात्र अनुभव आत्मा घटपटादिक सबसे स्थित है, ब्रह्मा, इन्द्रादिक देवता और जीव, सबके भीतर-बाहर भी

वही स्थित है। उस सर्वात्मा शान्तरूप देव का पूजन दो प्रकार से होता है। उस इष्टदेव का पूजन ध्यान है, और ध्यान ही पूजन है। जहाँ-जहाँ मन जाय, वहाँ-वहाँ लक्ष्यरूप आत्मा का ध्यान करो। सबका प्रकाशक आत्मा ही है। वह चिद्रूप अनुभव से हृदय के भीतर स्थित और अहंता से सिद्ध है। वही सबका सार और सबका आश्रयरूप है। उसका जो विराट्-रूप है, अब सुनो। वह अनन्त है। परमाकाश उसकी ग्रीवा है। अनेक पाताल उसके चरण हैं। अनेक दिशाएँ उसकी भुजा हैं। सब प्रकाश उसके शास्त्र हैं। हृदयकोश कोण में स्थित है। ब्रह्माण्ड समूह को परंपरा से वह प्रकाशित करता है। परमाकाश अपाररूप है। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्रादि देवता और जीव उसकी रोमावली है। त्रिलोकी में जो देहरूपी यन्त्र हैं, उनमें इच्छादिक शक्तिरूप सूत्र व्याप्त है, जिससे सब चेष्टा करते हैं। वह देव एक भी है और अनन्त भी। सत्तामात्र उसका स्वरूप है, सब जगज्जाल उसका विवृत्त है, काल उसका द्वारपाल है और पर्वतादिक ब्रह्माण्ड जगत् उसकी देह के किसी कोण में स्थित है। उस देव का चिन्तन करो। उसके सहस्र चरण, सहस्र नेत्र, शीश, भुजा और भुजाओं के विभूषण हैं। सर्वत्र उसकी नासिका इन्द्रिय है, सर्वत्र रसना इन्द्रिय है, सर्वत्र त्वचा इन्द्रिय है, सब ओर मन है, पर वह सब मननकला से अतीत है। सब ओर वही शिवरूप सर्वदा और सबका कर्ता है, सब संकल्पों के अर्थ का फलदायक है और सर्वभूत के भीतर स्थित और सब साधनों को सिद्ध करता है। ऐसा देव सबमें सब प्रकार और सर्वदा स्थित है। उसी देव का चिन्तन करो और उसी देव के ध्यान में सावधान रहो। सदा उसी के आश्रय रहना उस देव का बाहरी पूजन है। अब भीतर का पूजन सुनो।

हे ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ! संवित्मात्र जो देव है, वह सदा अनुभव से प्रकाशित होता है। उसका पूजन दीपक से नहीं होता; न धूप, पुष्प, चंदन-लेप और केसर से होता है। अर्घ्य, पाद्यादिक पूजा की सामग्रियों से भी उस देव का पूजन नहीं होता। उसका पूजन तो अनायास नित्य ही होता है। हे मुनीश्वर! एक अमृतरूपी जो बोध है, उससे उस देव

का सजातीय प्रत्यय ध्यान करना ही उसका परम पूजन है। हे मुनीश्वर ! शुद्ध चिन्मात्र देव अनुभवरूप है। उसका सर्वदा और सब प्रकार पूजन करो; अर्थात् देखना, स्पर्श करना, सूँघना, सुनना, बोलना, देना, लेना, चलना, बैठना इत्यादि जो कुछ क्रियाएँ हैं, सब चैतन्य साक्षी में अर्पण करो और उसी के परायण बनो। इस प्रकार आत्मदेव का पूजन करो। हे मुनीश्वर ! आत्मदेव का ध्यान करना ही धूप-दीप है और पूजन की सब सामग्री यही है। ध्यान ही उस देव को प्रसन्न करता है और उससे परमानन्द प्राप्त होता है। और किसी प्रकार से वह देव नहीं प्राप्त होता। हे मुनीश्वर, मूढ़ भी इस प्रकार ध्यान से उस ईश्वर की पूजा करे तो त्रयोदश निमेष में जगत्-दान के फल को पाता है। सत्रह निमेष के ध्यान से प्रभु को पूजे तो अश्वमेधयज्ञ के फल को पाता है। और केवल ध्यान से आत्मा का एक घड़ी पर्यन्त पूजन करे तो राजसूययज्ञ के फल को पाता है। जो दो प्रहर पर्यन्त ध्यान करे तो लक्ष राजसूययज्ञ के फल को पाता है और जो दिन भर ध्यान करे तो असंख्य अमित फल पाता है। हे मुनीश्वर ! यह परम योग है यही परम क्रिया है और यही परम प्रयोजन है। हे मुनीश्वर ! दोनों पूजाएँ मैंने तुमसे कहीं। जो ये परमपूजा करता है, वह परमपद को पाता है। उसको सब देवता नमस्कार करते हैं और वह पुरुष सबका पूजनीय होता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे ईश्वरोपाख्याने अन्तर्बाह्य-
पूजावर्णनन्नाम सप्तत्रिंशत्तमस्सर्गः ॥ ३७ ॥

ईश्वर बोले, हे मुनीश्वर ! अब तुम अभ्यन्तर का पूजन सुनो। वह सर्वत्र पवित्र करनेवाले को भी पवित्र करता है और सब तम और अज्ञान का नाश करता है। मैं वह आत्मपूजन तुमसे कहता हूँ, जो सब प्रकार से सर्वदा होता है और व्यवधान कभी नहीं पड़ता; चलते, बैठते, जागते, सोते सब व्यवहारों में नित्य ध्यान में रहता है। हे मुनीश्वर ! इस संसार में संवित्‌रूप चिन्मात्र नित्य स्थित है। उसका पूजन करो। जो सब प्रत्यायों का कर्ता और सदा अनुभव से प्रकाशित

होता है, उसका अपने में आप पूजन करो। उठते, चलते, खाते, पीते जो कुछ बाहर के लिए त्याग, ग्रहण और भोग हैं, सबको करते रहते भी उस देव की पूजा करो। हे मुनीश्वर ! शरीर में शिवलिङ्ग चिह्न से रहित बोधरूप देव है। यथाप्राप्त में सम रहना उस देव का पूजन है। यथाप्राप्ति के समभाव में स्नान करके शुद्ध होकर बोधरूप लिङ्ग का पूजन करो। जो कुछ प्राप्त हो, उसमें रागद्वेष से रहित होना और सर्वदा साक्षीरूप अनुभव में स्थित रहना ही उसका पूजन है। हे मुनीश्वर ! सूर्य के भुवन आकाश में वही सूर्य होकर प्रकाश करता है और चन्द्रमा के भुवन में चन्द्रमा होकर स्थित होता है। इनसे लेकर और भी जो पदार्थ समूह हैं, उनमें जैसी-जैसी भावना से स्फुरण हुआ है, वही रूप होकर वह देव स्थित है। हे मुनीश्वर ! जो नित्य, शुद्ध, बोधरूप और अद्वैत है, उसको देखना और किसी में वृत्ति न लगाना ही उस देव का पूजन है। प्राण अपानरूपी रथ पर आरूढ़ जो हृदय में स्थित है, उसका ज्ञान ही पूजन है। वही सब कर्म करता है। सब भोगों का भोक्ता, सब शब्दों को श्रवण करनेवाला, भागवतरूप और सबकी भावना करनेवाला वही परम प्रकाशरूप है। ऐसा जो संवित्तत्त्व है, उसको सर्वज्ञ जानकर उसका चिन्तन करना ही उसका पूजन है।

वह देव सब देहों में स्थित है तो भी आकाश सा निर्लिप्त निर्मल है। वह जाता भी है और नहीं जाता। प्राणरूपी आलय में प्रकाशित है; हृदय, कण्ठ, तालु, जिह्वा, नासिका और पीठ में व्यापक है, शब्द आदि विषयों को करता और मन का प्रेरक है। जैसे तिल के आश्रय तेल है, वैसे ही आत्मा सबका आश्रय है। वह कलनारूपी कलङ्क से रहित और कलनाओं से संयुक्त भी है। सम्पूर्ण देहों में वही एक देव व्याप रहा है। हृदय में जो प्रत्यक्ष होता है वही निर्मल चिन्मात्र प्रकाशरूप और कलनारूपी कलङ्क से रहित सदा प्रत्यक्ष है और अपने में आप ही उसका अनुभव किया जाता है। सर्वदा सब पदार्थों का प्रकाशक, प्रत्यक् चैतन्य जो आत्मतत्त्व अपने हृदय में स्थित है, वही अपने फुरने से शीघ्र ही द्वैत की तरह हो जाता है। हे मुनीश्वर ! जो

कुछ साकाररूप जगत् देख पड़ता है, सो सब विराट् आत्मा है। इससे अपने में इस प्रकार विराट् की भावना करो कि यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मेरी देह है; हाथ, पाँव, नख, केश है। मैं ही प्रकाशरूप एक देव हूँ। नीति इच्छादिक मेरी शक्ति हैं। सब मेरी ही उपासना करते हैं। जैसे स्त्री श्रेष्ठ भर्ता की सेवा करती है, वैसे ही शक्ति मेरी उपासना करती है। मन मेरा द्वारपाल है, जो त्रिलोकी का निवेदन करनेवाला है। चिन्तन मेरा आने-जानेवाला प्रतिहारी है। नाना प्रकार के ज्ञान मेरे अङ्ग के भूषण हैं। कर्म-इन्द्रियाँ मेरे द्वार और ज्ञान-इन्द्रियाँ मेरे गण हैं। ऐसा मैं एक अनन्त आत्मा, अखण्डरूप, भेद से रहित, अपने आपमें स्थित परिपूर्ण हूँ।

हे मुनीश्वर ! इसी भावना से जो एक देव की पूजा करता है, वह परमात्मदेव को प्राप्त होता है। दीनता आदि उसके सब क्लेश नष्ट हो जाते हैं। उसे अनिष्ट की प्राप्ति में शोक और इष्ट की प्राप्ति में हर्ष नहीं उपजता। न तोष होता है और न कोप होता है। विषय की प्राप्ति से वह तृप्ति नहीं मानता और न इसके वियोग से खेद मानता है। न अप्राप्त की वाञ्छा करता है, न प्राप्त के त्याग की इच्छा करता है। सब पदार्थों में उसका समभाव रहता है। ऐसा पुरुष उस देव का परम उपासक है। ग्रहण-त्याग न करना, सबमें तुल्य रहना और भेदभाव को प्राप्त न होना ही उस देव का उत्तम अर्चन है। हे मुनीश्वर ! मैंने चैतन्यतत्त्व देव तुमसे यह कहा। वह सब देहों में स्थित है। जो वस्तु प्राप्त हो, उसका अर्चन करके उसी के आगे रखना, सबके साक्षी आत्मा को देखना, किसी से खिन्न न होना, उसमें अहंप्रतीत रखकर भिन्न दृश्य की भावना न करना ही उस देव की अर्चना है। हे मुनीश्वर ! जो कुछ प्राप्त हो, उसमें यत्न बिना समदर्शी रहना और भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, चोष्य, भोजन जो प्राप्त हो, उसे देव के आगे रखके उसमें ग्रहण-त्याग की बुद्धि न करना, यही उस देव का पूजन है। सब पदार्थों की प्राप्ति में देव की पूजा करने से अनिष्ट भी इष्ट हो जाता है। मृत्यु आवे तो वह देव की पूजा, जन्म हो तो

वह देव की पूजा, दरिद्र आवे तो वह देव की पूजा, राग प्राप्त हो तो वह देव की पूजा। नाना प्रकार की विचित्र चेष्टाएँ सब देव के आगे पुष्पांजलि चढ़ाना है। रागद्वेष में सम रहना ही उस देव की पूजा है। सन्तों के हृदय में रहनेवाली मैत्री, अर्थात् सम्पूर्ण विश्व का मित्र होना भी उस देव का पूजन है। भोग, त्याग, राग से जो कुछ प्राप्त हो, उससे भी उस देव का पूजन करो। जो नष्ट हुआ सो हुआ और जो प्राप्त हुआ सो हुआ। दोनों में निर्विकार रहकर उससे उस देव का अर्चन करो। ये भोग आपात रमणीय हैं, होते भी हैं और नष्ट भी हो जाते हैं। इनकी इच्छा न करना, सदा सन्तुष्ट रहना। जैसे जो आकार प्राप्त हो, उसमें राग-द्वेष से रहित होना भी उस देव का अर्चन है।

हे मुनीश्वर ! जो कुछ प्रारब्ध से प्राप्त हो, उससे आत्मा का अर्चन करो। इच्छा-अनिच्छा को त्यागकर जो प्राप्त हो, उससे उस देव का अर्चन करो। हे मुनीश्वर ! ज्ञानवान् न किसी की इच्छा करता है और न त्याग करता है। जो अनिच्छित अनायास प्राप्त हो, उसको भोगता है जैसे समुद्र में नदी जा मिलती है पर वह उससे न कुछ हर्ष मानता है, न शोक करता है, वैसा ही ज्ञानवान् इष्ट-अनिष्ट की प्राप्ति में राग-द्वेष से रहित यथाप्राप्त को भोगता है। वह भी उस देव का पूजन है। देश, काल, क्रिया, शुभ अथवा अशुभ जो प्राप्त हो, उसमें संरक्षण विकार को प्राप्त न होना उस देव की अर्चना है। यदि द्रव्य अनर्थरूप हो तो भी समत्व रस मिला होने से वह अमृत हो जाता है। जैसे षट्रसों के स्वाद शक्कर से मिलकर मधुर हो जाते हैं, वैसे ही अनर्थरूपी रस समत्व रस से मिलकर अमृत हो जाते हैं। समदर्शी को उससे खेद नहीं होता। वे अनन्त रूप हो जाते हैं। चन्द्रमा की नाईं सब भावना अमृतमय हो जाती है। जैसे आकाश निर्लेप है, वैसे ही समत्व भाव पाकर चित्त राग-द्वेष से रहित निर्मल हो जाता है। द्रष्टा को दृश्य से मिला न देखना, साक्षीरूप रहना ही देव की अर्चना है। जैसे पत्थर की शिला निस्पन्द होती है, वैसे ही विकल्प से रहित चित्त अचल होता है। वही देव की अर्चना है।

हे मुनीश्वर ! भीतर से आकाश सा असंग रहना और बाहर से प्रकृति आचार में रहना किसी के संग का हृदय में स्पर्श न होने देना और सदा समभाव विज्ञान से पूर्ण रहना ही उस देव की उपासना है। जिसके हृदयरूपी आकाश से अज्ञानरूपी मेघ नष्ट हो गया है, उसको स्वप्न में भी विकार नहीं होता। जिसके हृदयरूपी आकाश से अहंता-रूपी कुहिरा मिट गया है, वह शरत्काल के आकाश सा उज्जवल होता है। हे मुनीश्वर ! जिसको समभाव प्राप्त हुआ है, और उससे उसने देव को पाया है, वह पुरुष ऐसा हो जाता है जैसा छोटा बालक राग-द्वेष से रहित होता है। जीवरूपी चेतना को उलंघ कर परम चैतन्य-तत्त्व जो प्राप्त होता है और सकल की इच्छा और सुख-दुःख-भ्रम से शरीर की मुक्ति होती है, वही देव की अर्चना है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे देवार्चनाविधान-
न्नामाष्टत्रिंशत्तमस्सर्गः ॥ ३८ ॥

ईश्वर बोले, हे मुनीश्वर ! जैसी कामना हो और जो कुछ आरम्भ करो अथवा न करो, उससे अपने में चिन्मात्र संवितत्त्व की अर्चना करो। इससे वह देव प्रसन्न होता है, और जब प्रसन्न हुआ, तब वह प्रकट होता है। जब उसको पाया और स्थित हुआ तब रागद्वेषादिक शब्दों का कुछ अर्थ नहीं रह जाता। जैसे अग्नि में बर्फ का कण नहीं पाया जाता, वैसे ही फिर उसमें रागद्वेषादिक नहीं पाये जाते। इससे उस देव की अर्चना करनी चाहिए। यदि राज्य अथवा दारिद्र व सुख-दुःख प्राप्त हो तो उसमें सम रहना ही देव की अर्चना है। हे मुनीश्वर ! शुद्ध चिन्मात्र से प्रमादी न होने का नाम ही अर्चना है। जो कुछ घटपट आदिक जगत् भासित होता है, सो सब आत्मरूप है, उससे भिन्न कुछ नहीं। वह आत्मा शिव शान्तिरूप, अनाभास, एक, प्रकाशरूप है। सम्पूर्ण जगत् प्रतीतिमात्र है; आत्मा से भिन्न किसी द्वैत वस्तु का आभास नहीं है। सर्वात्मारूप अद्वैततत्त्व जब भासित होता है, तब उसमें प्राप्त होकर बड़ा आश्चर्य होता है। घटपटा-दिक रूप सब वही है, और कुछ नहीं। हे मुनीश्वर ! यह सब सर्वात्मा

अनन्त शिवतत्त्व है, ऐसा निश्चय जिसको हुआ है, उसने देव की पूजा जानी है। घटपट आदि पदार्थ और पूज्य-पूजा-पूजकभाव, सब ब्रह्मरूप है। निर्मलदेव आत्मा में कुछ भेद-भाव नहीं है।

हे मुनीश्वर ! आत्मदेव सर्वशक्तिमान् और अनन्तरूप है। जगत् में उससे भिन्न कुछ नहीं। निर्मल प्रकाश संवित्‌रूप आत्मा स्थित है। हमको तो ईश्वरदेव से भिन्न कुछ नहीं भासित होता। सर्वत्र, सब प्रकार वही सर्वात्मा सम्पूर्ण देख पड़ता है। जिनको देश-काल के परिच्छेद सहित ईश्वर भासित होता है, वे हमारे उपदेश के पात्र नहीं, वे ज्ञानबन्धु नीच हैं। उनकी दृष्टि को त्यागकर मेरी दृष्टि का आश्रय जो ले तो स्वस्थ, वीतराग और निरामय होकर प्रारब्ध के अनुसार जो कुछ सुख-दुःख आकर प्राप्त हो उसे खेद से रहित होकर भोगे और उस देव का अर्चन करे, तब शान्ति प्राप्त हो। हे मुनीश्वर ! सब प्रकार सर्वात्मारूप से उस देव की भावना करो—यही उसका पूजन है। वृत्ति का सदा अनुभवरूप में स्थित रहना और यथाप्राप्त में खेद से रहित विचरना ही उस देव की अर्चना है। जैसे स्फटिक के मन्दिर में जो प्रतिबिम्ब झलकते हैं, वे और कुछ नहीं, निष्कलङ्क स्फटिक ही है, वैसे ही सब ओर से शुद्ध और जन्मादिक दुःख से रहित निष्कलङ्क आत्मा की प्राप्ति से तुम में जन्मादिक कलङ्क या दुःख कुछ न रहेगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे ईश्वरोपाख्याने देवपूजाविचारो नामैकोनचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ ३९ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे देव ! शिव किसे कहते हैं और ब्रह्म, आत्मा, परमात्मा, तत्सत्, निष्किञ्चन, शून्य, विज्ञान इत्यादिक किसे कहते हैं ? ये भेदसंज्ञाएँ किस निमित्त हुई हैं ? कृपा करके कहो। ईश्वर बोले, हे मुनीश्वर ! जब सबका अभाव होता है, तब अनादि, अनन्त, अनाभास सत्तामात्र शेष रहता है। जो इन्द्रियों का विषय नहीं, उसे निष्किञ्चन कहते हैं। फिर मैंने पूछा, हे ईश्वर ! जो इन्द्रियाँ, बुद्धि आदि का विषय नहीं, उसे क्योंकर पा सकते हैं ? ईश्वर बोले, हे मुनीश्वर ! जो मुमुक्षु हैं और जिनको वेद के आश्रयसंयुक्त सात्त्विकी

वृत्ति प्राप्त हुई है, उनको सात्त्विकीरूप जो गुह्य शास्त्रनाम की विद्या प्राप्त होती है, उससे अविद्या नष्ट हो जाती है और आत्मतत्त्व का प्रकाश होता है, जैसे साबुन से धोबी वस्त्र का मैल उतारता है, वैसे ही गुरु और शास्त्र अविद्या को दूर करते हैं। जब कुछ काल में अविद्या नष्ट होती है, तब अपना रूप आप ही दिखता है। हे मुनीश्वर ! जब गुरु और शास्त्रों का विचार मिलकर प्राप्त होता है, तब स्वरूप की प्राप्ति होती है, द्वैतभ्रम मिट जाता है और सर्वत्र आत्मा ही झलकता है। और जब विचार द्वारा आत्मतत्त्व का निश्चय हुआ कि सर्वत्र सब कुछ आत्मा ही है, उससे कुछ भिन्न नहीं, तब अविद्या जाती रहती है।

हे मुनीश्वर ! आत्मा की प्राप्ति में गुरु और शास्त्र प्रत्यक्ष कारण नहीं; क्योंकि जिनके क्षय होने से वस्तु को पाइये, उनके विद्यमान होते वह वस्तु कैसे मिल सकती है ? देह इन्द्रियों सहित गुरु होता है और ब्रह्म सब इन्द्रियों से अतीत है; इनसे कैसे उसे पाइये ? ज्ञान अकारण है, परन्तु उसके कारण भी हैं, क्योंकि गुरु और शास्त्र के क्रम से ज्ञान की सिद्धि होती है और गुरु और शास्त्र के बिना बोध की सिद्धि नहीं होती। आत्मा निर्देश और अदृश्य होकर भी गुरु और शास्त्र से मिलता है, और गुरु और शास्त्र से भी नहीं मिलता, आप ही से आत्मतत्त्व की प्राप्ति होती है। जैसे अन्धकार में पदार्थ हो और दीपक के प्रकाश से देखे तो दीपक से उसे नहीं पाया, अपने आपसे पाया है, वैसे ही गुरु और शास्त्र भी हैं। यदि दीपक हो और नेत्र न हों, तब कैसे वस्तु को पाइये और नेत्र हों और दीपक न हो तो भी नहीं पाया जाता। जब दोनों हों, तब पदार्थ पाया जाता है। वैसे ही गुरु और शास्त्र भी हों और अपना पुरुषार्थ और तीक्ष्णबुद्धि हो, तब आत्मतत्त्व मिलता है, अन्यथा नहीं पाया जाता। जब गुरु, शास्त्र और शिष्य की शुद्ध बुद्धि, तीनों इकट्ठे मिलते हैं, तब संसार के सुख-दुःख दूर होते हैं और आत्मपद की प्राप्ति होती है। जब गुरु और शास्त्र आवरण को दूर कर देते हैं, आपसे आप ही आत्मपद मिलता है, वैसे ही जैसे जब वायु बादल को दूर करती है, तब नेत्रों से सूर्य देख पड़ता है। अब

नाम के भेद सुनो। जब बोध के प्रभाव से कर्म-इन्द्रियों और ज्ञान-इन्द्रियों का क्षय हो जाता है, तब उसके पीछे जो शेष रहता है, उसके नाम संवित्तत्त्व, आत्मसत्ता आदिक हैं। जहाँ ये सम्पूर्ण नहीं और इनकी वृत्ति भी नहीं, उसके पीछे जो सत्ता शेष रहती है, वह आकाश से भी सूक्ष्म और निर्मल अनन्त परम शून्यरूप है—वहाँ शून्य का भी अभाव है। हे मुनीश्वर! जो शान्तरूप मुमुक्षु मनन-कलना से संयुक्त हैं, उनको जीवन्मुक्तपद के बोध के निमित्त मोक्ष उपाय ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्र, लोकपाल, पण्डित, पुराण, वेद शास्त्र और सिद्धान्त रचे गये हैं और उनमें शास्त्रों ने चैतन्य ब्रह्म, शिव, आत्मा, परमात्मा, ईश्वर, सत्, चित्, आनन्द आदि भिन्न-भिन्न अनेक संज्ञाएँ कही हैं, पर ज्ञानी को यह कुछ भेद नहीं।

हे मुनीश्वर! ऐसा जो देव है, उसका ज्ञानवान् इस प्रकार अर्चन करते हैं और जिस पद के हम सब दास या कर्मचारी हैं, उस परमपद को वे प्राप्त होते हैं। फिर मैंने पूछा, हे भगवन्! यह सब जगत् अविद्यमान है और विद्यमान की तरह स्थित है, सो यह कैसे हुआ? यह तुम्हीं कह सकते हो। ईश्वर बोले, हे मुनीश्वर! जो ब्रह्म आदिक नाम से कहा जाता है, वह केवल शुद्ध संवित्मात्र और आकाश से भी सूक्ष्म है। उसके आगे आकाश भी ऐसा स्थूल है, जैसा अणु के आगे सुमेरु स्थूल। उसमें जब वेदनाशक्ति आभास होकर चेतती है, तब उसका नाम चेतन होता है। फिर वह अहंताभाव को प्राप्त हुआ, जैसे स्वप्न में पुरुष अपने को हाथी देखने लगे, वैसे अपने को अहं मानने लगा। फिर देश, काल आकाश आदि देखने लगा। तब चेतनकला जीव अवस्था को प्राप्त हुई और वासना करनेवाली हुई। जब जीवभाव हुआ, तब बुद्धि निश्चयात्मक होकर स्थित हुई और शब्द और क्रियाज्ञान से संयुक्त हुई। जब इनसे मिलकर कल्पना हुई, तब मन हुआ, जो संकल्प का बीज है। तब अन्तवाहक शरीर में अहं-रूप होकर ब्रह्मसत्ता स्थित हुई। इस प्रकार यह उत्पन्न हुई है। फिर वायुसत्ता स्पंदित हुई, जिससे स्पर्शसत्ता त्वचा प्रकट हुई। फिर तेज-

सत्ता हुई, जिससे प्रकाशसत्ता प्रकट हुई। आकाश से नेत्रसत्ता प्रकट हुई। फिर जलसत्ता हुई, जिससे स्वादरूप—रससत्ता हुई। उससे जिह्वा प्रकट हुई। फिर गन्धसत्ता से भूमि, भूमि से घ्राणसत्ता और उससे पिण्डसत्ता प्रकट हुई। फिर देशसत्ता, कालसत्ता और सर्वसत्ता हुई, जिनको इकट्ठा करके अहंसत्ता प्रकट हुई। जैसे बीज, पत्र, फूल, फल आदिक का आश्रय होता है, वैसे ही पुर्यष्टका को जानो। यही अन्तवाहक देह है। इन सबका आशय ब्रह्मसत्ता है। वास्तव में कुछ उपजा नहीं, केवल परमात्मसत्ता अपने आप में स्थित है। जैसे तरंगादि में जल स्थित है, वैसे ही आत्मसत्ता अपने आप में स्थित है।

हे मुनीश्वर! संवित में जो संवेदन पृथक्रूप होकर स्फुरित और उसे निःस्पन्दन करके जब स्वरूप को जाने, तब वह नष्ट हो जाती है। जैसे संकल्प का रचा नगर संकल्प के अभाव से अभाव हो जाता है, वैसे ही आत्मा के ज्ञान से संवेदन का अभाव हो जाता है। हे मुनीश्वर! संवेदन तब तक भासित होता है, जब तक उसको जाना नहीं, जब जान लिया, तब संवेदन का अभाव हो जाता है और वह संवित् में लीन हो जाता है, भिन्न सत्ता इसकी नहीं रहती। हे मुनीश्वर! जो प्रथम अणु तन्मात्र थी, वह भावना-वश स्थूल देह को प्राप्त हुई और स्थूल देह होकर भासित होने लगी। आगे जैसे-जैसे देश-काल-पदार्थ की भावना होती गई, वैसे-वैसे भासित होने लगी। जैसे स्वप्न में गन्धर्वनगर और स्वप्नपुर देख पड़ता है, वैसे ही भावना के कारण ये पदार्थ भासित होने लगे हैं। मैंने पूछा, हे भगवन्! गन्धर्वनगर और स्वप्नपुर के समान इसको कैसे कहते हो? यह जगत तो प्रत्यक्ष देख पड़ता है?

ईश्वर बोले, हे मुनीश्वर! संसार का दुःख वासना-वश दीखता है। अविद्यमान में स्वरूप के प्रमाद से विद्यमान बुद्धि हुई है। जगत के पदार्थों को सत् जानकर जो वासना जागती है, उससे दुःख होता है। हे मुनीश्वर! यह जगत अविद्यमान है। जैसे मृगतृष्णा का जल असत्य होता है, वैसे ही यह जगत् असत्य है। उसमें वासना, वासक

और वास्य तीनों मिथ्या हैं। जैसे मृगतृष्णा का जल पान करके कोई तृप्त नहीं होता, क्योंकि जल ही असत् है, वैसे ही यह जगत् स्वयं ही असत् है, अतः इसके पदार्थों की वासना करना वृथा है। ब्रह्मा से तृणपर्यन्त सब जगत् मिथ्या है। वासना, वासक और वास्य पदार्थों का अभाव होने पर केवल आत्मतत्त्व रहता है और सब भ्रम शान्त हो जाता है।

हे मुनीश्वर! यह जगत् भ्रममात्र है—वास्तव में कुछ नहीं। जैसे बालक को अज्ञान से अपनी परछाहीं में वैताल देख पड़ता है और जब विचार करके देखे तब वैताल का अभाव हो जाता है, वैसे ही अज्ञान से यह जगत् भासित होता है और आत्मविचार से इसका अभाव हो जाता है। जैसे मृगतृष्णा की नदी और आकाश में नीलता और दूसरा चन्द्रमा भासित होता है, वैसे ही आत्मा में अज्ञान से देह भासित होती है। जिसकी बुद्धि देहादिक में स्थिर है, वह हमारे उपदेश के योग्य नहीं है। जो विचारवान् है, उसको उपदेश करना उचित है। जो मूर्ख भ्रांत असत्वादी और सत्कर्म से रहित अनार्य है, उसको ज्ञानवान् कभी उपदेश न करे। जिनमें विचार, वैराग्य, कोमलता और शुभ आचार हों, उनको उपदेश करना चाहिए। जो इन गुणों से रहित हों उनको उपदेश करना ऐसे होता है, जैसे कोई महासुन्दर और सुवर्ण सदृश कान्तिवाली कन्या को नपुंसकपुरुष के साथ व्याह देने की इच्छा करे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे जगन्मिथ्यात्वप्रतिपादनं
नाम चत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ ४० ॥

वशिष्ठजी बोले, हे भगवन्! वह जीव, जो आदि में उत्पन्न हुआ और अपने साथ देहभ्रम देखने लगा, उसके अनन्तर वह कैसे स्थित हुआ? ईश्वर बोले, हे मुनीश्वर! उस जीव ने स्वप्न की तरह सर्वगत चिद्घन आत्मा के आश्रय से उपजकर अपने शरीर को देखा। हे मुनीश्वर! जो आदि जीव प्रकट होकर प्रमाद को नहीं प्राप्त हुआ और अपने स्वरूप ही में अहंप्रत्यय रहा, वह इस कारण ईश्वर होकर स्थित हुआ।

उसको यह निश्चय रहा कि मैं सनातन, नित्य, शुद्ध, परमानन्द और अव्यक्तरूप परमपुरुष हूँ। आत्मा की अपेक्षा से उसको जीव कहा है और सृष्टि जगत की अपेक्षा करके उसको ईश्वर कहा। हे मुनीश्वर! वह जो आदि जीव है सो कर्मा विष्णुरूप होकर ब्रह्मा को नाभिकमल से उत्पन्न करता है। वह किसी सृष्टि में प्रथम ब्रह्मा हुआ है और विष्णु और रुद्र उससे उत्पन्न हुए हैं। किसी सृष्टि में वह प्रथम रुद्र हुआ, उससे विष्णु और ब्रह्मा हुए। चैतन्य आकाश में जैसा-जैसा संकल्प प्रकट हुआ है, वैसा ही वैसा होकर वह स्थित हुआ है। आदि जीव ने उपजकर जिस-जिस प्रकार का संकल्प किया, वैसा-वैसा होकर स्थित हुआ। वास्तव में सब अवस्तुरूप है और अज्ञानरूप भ्रम से भासित हुआ है। जैसे परछाहीं में वैताल होता है, वैसे ही अज्ञान से यह सतरूप भासित होता है। आदि-पुरुष से लेकर सारी सृष्टि परमाकाश के एक निमेष में हुई है और उन्मेष में लय भी हो जाती है। एक निमेष के प्रमाद से कल्प के समूह व्यतीत हो जाते हैं और परमाणु परमाणु में सृष्टियाँ प्रकट होती हैं। उनमें कल्प और महाकल्प भासित होते हैं। कुछ सृष्टियाँ परस्पर दिखती हैं और कुछ अन्योन्य अदृश्यरूप हैं। इसी प्रकार सृष्टियाँ उसकी स्पन्दनकला में उपजी हैं और चमत्कार हुआ है। जब स्पन्दन-कला स्वरूप की ओर आती है, तब उसमें लीन हो जाती है। जैसे स्वप्न का देखा पर्वत जागने पर लीन हो जाता है, वैसे ही जाग्रत की सृष्टि लीन हो जाती है।

हे मुनीश्वर! जीव-जीव प्रति अपनी-अपनी सृष्टियाँ हैं। उन सृष्टियों को कोई देश या काल रोक नहीं सकता; क्योंकि वे अपने-अपने संकल्प में स्थित हैं और यह सब आत्मा का चमत्कार है। जैसा स्फुरण स्फुरित होता है, वैसा चमत्कार भासित होता है। हे मुनीश्वर! न कुछ उपजा है, न कुछ नष्ट होता है; स्वतः चैतन्यतत्त्व अपने आपमें चमकता है। जैसे स्वप्ननगर उपजकर नष्ट हो जाता है और संकल्प का पहाड़ उपजकर मिट जाता है, वैसे ही जगत् उपजकर नष्ट हो जाता है। जैसे स्वप्न और संकल्प के पहाड़ को कोई रोक नहीं सकता, वैसे ही अपनी-

अपनी सृष्टि को देश या काल रोक नहीं सकता। क्योंकि और जगह इनका सद्भाव नहीं है, इससे यह जगत् अपने-अपने काल में सत्‌रूप है। आत्मा में सद्भाव नहीं, वह संकल्परूप है। हे मुनीश्वर ! जैसे आदि तत्त्व से जीव ईश्वर निकले हैं, वैसे ही कर्म भी रुद्र से लेकर वृक्ष तक सब एक क्षण में उसी तत्त्व से निकल आये हैं। सुमेरु आदि भी अपनी स्थिति में अपने को रोकते हैं, अन्य अणु को भी नहीं रोक सकते; क्योंकि वहाँ अस्तित्व है ही नहीं। इस कारण आत्मा में सृष्टि आभास-रूप है। हे मुनीश्वर ! इस प्रकार सब जगत् मायामात्र है और भावना से भासित होता है। जब आत्मा का अभ्यास होता है, तब भेदकल्पना मिट जाती है और केवल उपशमरूप शिवतत्त्व भासित होता है।

हे मुनीश्वर ! निमेष का जो शत भाग है उसका अर्द्धभाग प्रमाद होने से नाना प्रकार का जगत् प्रकट भासित होता है। सत्-असत्‌रूप जगत् मनरूपी विश्वकर्मा बनाता है। आत्मतत्त्व न दूर है, न निकट है, न नीचे है, न ऊपर है, न पूर्व में है और न पश्चिम में है। सत्-असत् के मध्य वह अनुभवरूप सर्वज्ञ है। उसको प्रत्यक्ष आदिक प्रमाण अपना विषय नहीं बना सकते—जैसे जल से अग्नि नहीं निकलती। हे मुनीश्वर ! जो कुछ तुमने पूछा था सो मैंने कहा। उसमें चित्त लगाने से तुम्हारा कल्याण न होगा। इतना कह सदाशिव बोले कि अब हम अपने वाञ्छित स्थान को जाते हैं। चलो पार्वती, अपने स्थान को चलें।

इतना कहकर वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जब इस प्रकार ईश्वर ने कहा, तब मैंने अर्घ्य-पाद्य से पूजन किया और ईश्वर भी पार्वती और गणों को लेकर आकाशमार्ग को चले। जब तक मुझको देख पड़ते रहे, तब तक मैं उनकी ओर देखता रहा। फिर अपने स्थान में कुशासन पर आकर बैठा और जो कुछ ईश्वर ने उपदेश किया था, वह मैं अपने मन में विचारने लगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे परमार्थविचारो
नामैकचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ ४१ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जो कुछ ईश्वर ने मुझसे कहा सो मैं आप भी जानता था और तुम भी जानते हो। यह जगत् भी असत् है और देखनेवाला भी असत् है। इस मायारूप जगत् में मैं तुमसे सत् क्या कहूँ और असत् क्या कहूँ ? जैसे जल में द्रवता है, वैसे ही आत्मा में जगत् है। जैसे पवन में स्पन्दन और आकाश में शून्यता है, वैसे ही आत्मा में जगत् है। हे राम ! जो कुछ पतित प्रवाह से प्राप्त होता है, उसी से मैं देवअर्चन करता हूँ। इस क्रम से मैं निर्वासनिक हूँ और जगत् की क्रिया से मैं दुःख-हीन होकर चेष्टा करता हूँ। व्यवहार करता देख पड़ता हूँ, तो भी शान्तरूप हूँ और यथाप्राप्त आचाररूपी फूल से आत्म-देव की अर्चना करता हूँ, मुझको छेद-भेद कोई नहीं होता। हे राम ! विषयों और इन्द्रियों का सम्बन्ध सब जीवों को बराबर है, पर जो ज्ञान-वान् हैं, वे सावधान रहते हैं और जो कुछ देखते, सुनते, बोलते, खाते, सूँघते और स्पर्श करते हैं, उसमें आत्मतत्त्व का अर्चन करते हैं और अपने को आत्मा से भिन्न नहीं जानते। अज्ञानियों को कर्तृत्व-भोक्तृत्व का अभिमान होता है और उससे वे दुखी होते हैं।

हे राम ! तुम भी ऐसी दृष्टि का आश्रय लेकर संसाररूपी वन में निःसंग होकर विचरो तो तुमको कुछ खेद न होगा। जिसकी वृत्ति इस प्रकार समान हो गई है, उसको चाहे बड़ा कष्ट प्राप्त हो, चाहे धन और बांधवों का वियोग हो, तो भी उसको खेद नहीं होता। यह जो दृष्टि मैंने तुमसे कही है, उसका जब आश्रय ग्रहण करोगे, तब तुमको कोई दुःख न होगा। हे राम ! सुख, दुःख, धन और बान्धवों का वियोग, ये सब पदार्थ अनित्य हैं। ये आते भी हैं और जाते भी हैं। इनको 'आगमापायी' जानकर विचरो। यह संसार विषमरूप है, एकरस कभी नहीं रहता। इसको स्थिर या सत् जानकर दुखी न होना। हे राम ! पदार्थ और काल जैसे जाय तैसे जाय और जैसे सुख-दुख आवें वैसे आवें ये सब आगमापायी पदार्थ हैं, अर्थात् आते भी हैं और जाते भी हैं। इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट की निवृत्ति में हर्षित न होना अनिष्ट की प्राप्ति और इष्ट के वियोग से खिन्न न होना। जैसे जो आवे,

उसे निर्लिप्त रहकर भोग करो। जिसको आना है वह आवेगा और जिसको जाना है वह जावेगा। ये सुख-दुख प्रवाहरूप हैं। इनमें आस्था करके संतप्त न होना। हे राम! यह सब जगत् तुम्हीं हो और तुम्हीं जगत्‌रूप हो। चिन्मात्र विस्तृत आकार भी तुम्हीं हो। जब सब तुम्हीं हो, तब हर्ष या शोक किस लिए करते हो? इसी दृष्टि का आश्रय करके जगत् में सुषुप्त होकर विचरो तो तुरीयातीत अवस्था को प्राप्त होगे, जो सम प्रकाशरूप है। हे राम! जो कुछ मुझे तुमसे कहना था सो कहा है, आगे जो तुम्हारी इच्छा हो सो करो। पीछे तुमने पूछा था कि अनन्तरूप ब्रह्म में कलङ्क कैसे प्राप्त हुआ है? सो अब फिर प्रश्न करो कि मैं उत्तर दूँ।

रामजी ने कहा, हे ब्रह्मन्! अब मुझको कुछ संशय नहीं रहा; मेरे सब संशय नष्ट हो गये हैं और जो कुछ जानना था सो मैंने जान लिया। अब मैं परम अकृत्रिम तृप्ति को प्राप्त हुआ हूँ। हे मुनीश्वर! आत्मा में न मैल है, न द्वैत है और न एक दो आदि की कोई कल्पना है। पहिले मुझमें अज्ञान था तब मैंने पूछा था; अब तुम्हारे वचनों से मेरा अज्ञान नष्ट हो गया है, इससे कुछ दोष नहीं भासित होता। आत्मा को न जन्म है, न मरण है। सब ब्रह्म ही है। हे मुनीश्वर! प्रश्न संशय से उपजता है, सो मेरा संशय नष्ट हो गया है। जैसे यन्त्री की कठ-पुतली न हिलाने से अचल होती है, वैसे ही संशय से रहित मेरा मन स्थिर निश्चल हो गया है। सर्व सारों का सार मुझको प्राप्त हुआ है। जैसे सुमेरु अचल है, वैसे ही मैं अचल हूँ। मुझको कोई क्षोभ नहीं। ऐसा कोई पदार्थ नहीं, जो मेरे लिए त्यागने योग्य हो और ऐसा भी कोई पदार्थ नहीं, जो ग्रहण करने योग्य हो। किसी पदार्थ की मुझको न इच्छा है, न अनिच्छा। मैं शान्तरूप स्थित हूँ। न स्वर्ग की मुझको इच्छा है, न नरक से द्वेष है। सब ब्रह्मरूप मुझको भासित होता है। मन्दराचल पर्वत की तरह मैं आत्मतत्त्व में स्थित हूँ।

हे मुनीश्वर! जिसको अवस्तु में वस्तु-बुद्धि होती है और हृदय में कलना स्थित होती है, वह किसी को ग्रहण करता है; किसी का

त्याग करता है और दीनता को प्राप्त होता है। हे मुनीश्वर ! यह संसार महासमुद्ररूप है। उसमें राग द्वेषरूपी लहरें हैं और शुभ-अशुभ-रूपी मच्छ रहते हैं। ऐसे भयानक संसारसमुद्र मे अब मैं आपके प्रसाद से तर गया हूँ और चरम-परम सम्पदा को प्राप्त होकर मेरे दुःख नष्ट हो गये हैं। सबके सार को प्राप्त होकर मैं पूर्ण आत्मा हूँ। अदीन पद और परम शान्त अभेदसत्ता मुझे मिल गई है। आशारूपी हाथी को मैंने सिंह बनकर मारा है। अब मुझको आत्मा से भिन्न कुछ नहीं देख पड़ता। मेरे सब विकल्प-जाल कट गये हैं. इच्छादिक विकार नष्ट हो गये हैं और दीनता जाती रही है। तीनों जगत में मेरी जय है और मैं सदा उदितरूप हूँ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे विश्रान्ति आगमनं नाम
द्विचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ ४२ ॥

वशिष्ठजी बोले. हे राम ! जो केवल देह और इन्द्रियों से करता है और मन से नहीं करता. वह जो कुछ करता है सो कुछ नहीं करता। जो कुछ इन्द्रियों से इष्ट प्राप्त होता है. उससे क्षणमात्र सुख प्राप्त होता है। उस क्षणभर की प्रसन्नता में जो बँध जाता है. वह बालबुद्धि मूर्ख है। जो ज्ञानवान् है. वह उसमें कभी नहीं बँधता। हे राम ! वाञ्छा ही इसको दुखी करती है। सुन्दर विषयों की वाञ्छा होने पर जब जीव यत्न से उसको प्राप्त करता है. तब क्षणभर सुख होता है और जब उनका वियोग होता है, तब दुखी होता है। इस कारण इन विषयों की वाञ्छा त्यागना ही उचित है। इनकी वाञ्छा तब होती है. जब स्वरूप का ज्ञान नहीं होता और देहादिक में सद्भाव होता है। जब देहादिक में अहंभाव होता है. तब अनेक अनर्थ उपस्थित होते हैं। इससे हे राम ! ज्ञानरूपी पर्वत पर चढ़े रहना और अहंतारूपी गढ़े में न गिरना। हे राम ! आत्मज्ञानरूपी सुमेरु पर्वत पर चढ़कर फिर अहंता (अभिमान) के गढ़े में गिरना बड़ी मूर्खता है। जब दृश्यभाव को त्यागोगे. तब अपनी स्वभावसत्ता को प्राप्त होगे। वह सम और

शान्तरूप है और उसमे विकल्पजाल सब मिट जायगा। तब समुद्र की तरह पूर्ण होगे और द्वैतरूप न प्रतीत होगा।

हे राम ! जब हृदय में विषय को विष जाने, तब मन भी नीरस हो जाता है और चित्त निस्सङ्ग होता है। वास्तव में देखो तो सबमें सत्ता ब्रह्म चिद्घन समानरूप से स्थित है, पर अद्वैतस्वरूप के प्रमाद से वह नहीं भासित होता। हे राम ! आत्मा का अज्ञान ही बन्धन और आत्मा का बोध ही मुक्ति है। इससे बलपूर्वक मोह-निद्रा को छोड़ आप ही जागो, तब इस बन्धन से मुक्त होगे। हे राम ! जिसमें विषय का स्वाद नहीं और जिसमें आत्म तत्त्व का अनुभव होता है, वह आकाश-सदृश निर्मल सत्ता वासना से रहित है। वासना से रहित होकर जो पुरुष कर्म करता है, वह विकार को नहीं प्राप्त होता। यदि अनेक क्षोभ आकर प्राप्त हों तो भी उसको विकार नहीं होता। ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, ये तीनों आत्मरूप भासित होते हैं। जब ऐसा ज्ञान होता है, तब किसी का भय नहीं रहता। चित्त के चेतन से जगत् उत्पन्न होता है और चित्त के मिटने पर लीन हो जाता है। जब वासना-सहित प्राण उदय होते हैं, तब जगत् का उदय होता है और जब वासना-सहित प्राण लीन होते हैं, तब जगत् भी लीन हो जाता है। अभ्यास करके वासना और प्राणों को स्थित करो। जब मूर्खता उदय होती है तब कर्म उदय होते हैं और मूर्खता के लीन होने पर कर्म भी लीन होते हैं। इससे सत्संग और सत्शास्त्रों के विचार से मूर्खता को नष्ट करो। जैसे वायु के संग से उड़कर धूल बादल का आकार धारण करती है, वैसे ही चित्त के चेतन से जगत स्थित होता है। हे राम ! जब चित्त-जगता है, तब नाना प्रकार का जगत प्रकट होता है, और चित्त के न जगने पर जगत् लीन हो जाता है।

हे राम ! वासना शान्त हो अथवा प्राणों का निरोध हो, तब चित्त अचित्त हो जाता है और जब चित्त अचित्त हुआ तब जीव परमपद को प्राप्त होता है। हे राम ! दृश्य और दर्शन सम्बन्ध के बीच में जो परमात्मसुख और एकान्तसुख है, वह संवित् ब्रह्मरूप है। उसका

साक्षात्कार होने पर मन का क्षय हो जाता है। जहाँ चित्त नहीं उपजता, वह जो चित्त से रहित अकृत्रिम सुख है। ऐसा सुख स्वर्ग में भी नहीं होता जैसे मरुस्थल में वृक्ष नहीं होते, वैसे ही चित्त-सहित विषयों से सुख नहीं होता। चित्त के उपशम में जो सुख है, वह वाणी से कहा नहीं जा सकता। उसके समान या उससे बढ़कर कोई भी सुख नहीं है। सुख का नाश हो जाता है, पर आत्मसुख का नाश नहीं होता। वह अविनाशी है और उत्पत्ति-विनाश से रहित है। हे राम! अबोध से चित्त का उदय होता है और आत्मबोध से वह शान्त हो जाता है। जैसे मोह से बालक को बेताल दिखाई देता है और मोह के नष्ट होने पर नष्ट हो जाता है, वैसे ही अज्ञान से चित्त का उदय होता है और अज्ञान के नष्ट होने पर वह नष्ट हो जाता है। यदि चित्त विद्यमान भी भासित होता है, तो भी बोध से वह निर्बीज हो जाता है। जैसे पारस से मिलकर ताँबा सुवर्ण हो जाता है तो उसका आकार तो वही देख पड़ता है, पर ताँबे के भाव का अभाव हो जाता है, वैसे ही अज्ञान से जगत भासित होता है और अज्ञान से चित्त अचित्त हो जाता है; जड़जगत नहीं भासित होता, ब्रह्मसत्ता ही भासित होती है और वह सत्पद को प्राप्त होता है, परन्तु नामरूप वैसे ही भासित होते हैं। हे राम! ज्ञानी का चित्त भी कर्म करता देख पड़ता है, परन्तु चित्त अचित्त हो जाता है। जो अज्ञान से भासित होता है, वह ज्ञान से शून्य हो जाता है। जो जगत अबोध से भासित था, वह बोध से शान्त हो जाता है, फिर नहीं उपजता। वह चित्त शान्तपद को प्राप्त होता है। कुछ समय तक तो वह भी तुर्यावस्था में स्थित विचरता है, पर फिर तुर्यातीतपद को प्राप्त होता है। अधः, ऊर्ध्व, मध्य, सर्वत्र ब्रह्म ही इस प्रकार अनेक होकर स्थित हुआ है। अनेक भ्रम होने पर भी एक ही है और सर्वात्मा ही है—चित्तादिक कुछ नहीं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे चित्तसत्तासूचनन्नाम
त्रिचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ ४३ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे राम! अब तुम संक्षेप से एक अपूर्व और

आश्चर्यरूप बोध देनेवाला दृष्टान्त सुनो। एक बेलफल है, जिसका विस्तार अनन्त योजन पर्यन्त है। जिसे अनन्त युग व्यतीत हो गये हैं। पर वह जर्जर कभी नहीं होता। वह अनादि है, उसमें अविनाशी रस है, इससे कभी नाश नहीं होता। वह चन्द्रमा की तरह सुन्दर है। सुमेरु आदिक जो बड़े पहाड़ हैं उनको महाप्रलय का पवन तृण की तरह उड़ाता है; पर वह पवन भी उसको नहीं हिला सकता। हे राम! योजनों की अनन्त कोटि संख्या है, पर उसकी संख्या नहीं की जा सकती। वह बेलफल ऐसा और बहुत बड़ा है। जैसे सुमेरु के आगे राई का दाना सूक्ष्म और तुच्छ लगता है, वैसे ही उस बेलफल के आगे ब्रह्माण्ड सूक्ष्म और तुच्छ लगता है। वह बेल रस से पूर्ण है, कभी गिरता नहीं और पुरातन है। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्रादिक भी उसका आदि, अन्त और मध्य नहीं जान सकते। न उसके मूल को कोई जान सकता है, न मध्य को कोई जान सकता है। उसका अदृष्ट आकार है और अदृष्ट फल है। वह अपने प्रकाश से प्रकाशित है। उसका घन आकार है। वह सदा अचल है, किसी विकार को नहीं प्राप्त होता। वह सत्, निर्मल, निर्विकार, निरन्तररूप, नीरन्ध्र और चन्द्रमा की तरह शीतल, सुन्दर है। उसमें ज्ञान-संवितरूपी रस है। वह अपना रस आप ही पीता है और सबको देता है। सबका प्रकाशक भी वही है। उसमें अनेक चित्ररेखाओं ने निवास किया है, परन्तु वह अपने स्वरूप को नहीं छोड़ता। अनेकरूपी भासित होता है। उसमें स्पन्दनरूपी रस भरा है। तत्त्वं, इदं, देश, काल, क्रिया, नीति, राग, द्वेष, हेयोपादेय, भूत, भविष्यत, काल, प्रकाश, तम, विद्या, अविद्या इत्यादि कलना-जाल उस रस के चेतने से चेतते हैं। वह बेल आत्मरूप है। उसमें अनुभवरूपी रस है। वह सदा अपने आपमें स्थित और नित्य शान्तरूप है। उसको जानकर पुरुष कृतकृत्य होता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे विल्वोपाख्यानं नाम
चतुश्चत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ ४४ ॥

रामजी बोले, हे भगवन ! सब धर्मों के जाननेवाले आपने यह बेलरूपी महाविटपवन सत्ता कही। सो मुझे ऐसा निश्चय हुआ कि चैतन्य ही अहंतादिक जगत हो भासित होता है, भेद रंचक भी नहीं एक या द्वैत कल्पना सब वही है। वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जैसे ब्रह्माण्ड की मज्जा सुमेरु आदिक पृथ्वी है, वैसे ही चैतन्य बेल की मज्जा यह ब्रह्माण्ड है। सब जगत चैतन्य बेलरूप है—भिन्न नहीं, और उस चैतन्य का विनाश नहीं हो सकता। हे राम। चैतन्यरूपी मिश्चे के बीज में जो जगतरूपी चमत्कार तीक्ष्णता है सो सुषुप्त निर्मल और शिला के अन्तरवत अभिश्रित है। हे राम ! अब और आश्चर्यरूप एक आख्यान सुनो। महासुन्दर प्रकाशसंयुक्त स्निग्ध और शीतल स्पर्शवाली विस्तृतरूप एक शिला महानीरन्ध्र और घनरूप है। उसमें कमल उपजते हैं और उसकी ऊर्ध्व बेल है, अधः मूल है और अनेक शाखाएँ हैं। रामजी बोले, हे भगवान ! सत्य कहते हो, यह शिला मैंने भी देखी है। यह नदी में विष्णु की मूर्ति शालग्राम है। वशिष्ठजी बोले, हे राम ! ऐसे तो तुम जानते हो और तुमने देखा भी है। परन्तु जो शिला मैं बताता हूँ, वह अपूर्व शिला है उसके भीतर ब्रह्माण्ड समूह हैं और कुछ भी नहीं। हे राम ! चैतन्यरूपी शिला जो मैंने तुमसे कही है, उसमें सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड हैं। उस घनचैतन्यता से शिला वर्णन की है। वह अनन्तघन और नीरन्ध्र है। आकाश, पृथ्वी, पर्वत, देश, नदियाँ समुद्र इत्यादि सभी विश्व उस शिला के भीतर स्थित है। जैसे शिला के ऊपर जो कमल खिले होते हैं वे शिलारूप हैं, शिला से भिन्न नहीं, वैसे ही यह जगत आत्मरूपी शिला में है; आत्मा से भिन्न नहीं। हे राम ! भूत, भविष्यत और वर्तमान, तीनों काल उस शिला की पुतलियाँ हैं। जैसे शिल्पी पुतलियों की कल्पना करता है, वैसे ही यह जगत आत्मा में है, उपजा नहीं, क्योंकि मनरूपी शिल्पी कल्पना करता है और उससे नाना प्रकार का जगत भासित होता है; आत्मा में कुछ उपजा नहीं। जैसे सुषुप्तरूप शिला के ऊपर जो कमल-रेखा खिंची होती है, वह शिला से भिन्न नहीं, वैसे ही यह जगत आत्मा

में है, आत्मा से भिन्न नहीं। जैसे शिला में जो पुतली बनी होती है, उनका उदय-अस्त नहीं होता, शिला ज्यों की त्यों रहती है, वैसे ही आत्मा में जगत् का उदय-अस्त नहीं होता; क्योंकि वास्तव में वह कुछ नहीं है। आत्मा में द्वैतकल्पना अज्ञान से होती है, और जब बोध होता है, तब शान्त हो जाती है। जैसे समुद्र में पड़ी जल की बूँद समुद्ररूप हो जाती है, वैसे ही बोध से कल्पना आत्मा में लीन हो जाती है।

हे राम ! चैतन्यआत्मा अनन्त है। उसमें कोई विकार और कल्पना नहीं है, पर अज्ञान से कल्पना उदित होती है और ज्ञान से लीन हो जाती है। विकार भी आत्मा के आश्रय से प्रतीत होते हैं, पर आत्मा विकार से रहित है। ब्रह्म से विकार उत्पन्न होते हैं और ब्रह्म ही में स्थित हैं, पर वास्तव में कुछ नहीं होता—सब आभासमात्र हैं। जैसे किरणों में जलाभास होता है, वैसे ही ब्रह्म में जगत्-विकार का आभास होता है। जैसे बीज में पत्र, डाल, फूल और फल का विस्तार होता है और बीजसत्ता सबमें मिली होती है, बीज से कुछ भिन्न नहीं होता, वैसे ही चिद्घन आत्मा के भीतर जगत् का जो विस्तार है, वह चिद्घन आत्मा से भिन्न नहीं; वही अपने आपमें स्थित है और जगत् भी उसी का रूप है। यदि एक मानिये तो द्वैत भी होता है और यदि एक नहीं कहा जाता तो द्वैत कहाँ हो ? जगत् और आत्मा में कुछ भेद नहीं; अद्वैत आत्मा ही अपने आपमें स्थित है। जैसे शिला में लिखी मूर्ति शिलारूप होती है, वैसे ही जगत् आत्मारूप है। और जैसे शिला में भिन्न-भिन्न विषम मूर्तियाँ होती हैं और आधाररूप शिला भिन्न है, वैसे ही आत्मा में जगन्मूर्ति भिन्न-भिन्न विषमरूप भासती है और उसका चैतन्यरूप आधार अभिन्न है, ब्रह्मसत्ता समान सुषुप्तवत् समवस्थित है। उसमें बड़े विकार भी देख पड़ते हैं, परन्तु वास्तव में वह सुषुप्तवत् विकार से रहित है। फुरने से रहित चैतन्यरूप शिला नित्य शान्त चिद्घनरूप सत्ता है, उसी में यह जगत् कल्पित है। अधिष्ठान सत्ता सर्वदा शान्तरूप है। उसमें भेद कदापि नहीं। जैसे

जल में तरङ्ग और सुवर्ण में भूषण अभिन्नरूप हैं वैसे आत्मा में जगत् अभिन्नरूप है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे शिलाकोशउपदेशोनाम पञ्चचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ ४५ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! बीज के भीतर फूल, फल और सम्पूर्ण वृक्ष होता है। उस वृक्ष का आदि भी बीज है और अन्त भी बीज है। जब फल पकता है, तब बीज भी होता है। वैसे ही आत्मा भी जगत् में है, परन्तु सदा अच्युत और सम है, कभी भेद, विकार और परिणाम को नहीं प्राप्त हुआ, अपनी सत्ता से स्थित है। जगत् के आदि, मध्य, अन्त में वही है, किसी और भाव को नहीं प्राप्त हुआ। देश, काल, कर्म आदि जो कुछ कलना भासित होती है, सो वही है। जो कुछ शब्द और अर्थ हैं, वह आत्मा से भिन्न नहीं। जैसे वृक्ष का आदि भी बीज है और अन्त भी बीज है और मध्य में जो कुछ विस्तार देख पड़ता है, वह भी वही है, भिन्न कुछ नहीं, वैसे जगत् का आदि भी आत्मसत्ता है, अन्त भी आत्मसत्ता है और जो कुछ मध्य में भासित होता है, वह भी वही है। हे राम ! चैतन्यरूपी बड़े दर्पण में सम्पूर्ण जगत् प्रतिबिम्बित होता है। सम्पूर्ण जगत् संकल्प-मात्र है। जैसा-जैसा किसी में उसका स्फुरण दृढ़ होता है, वैसे ही वैसे आत्मसत्ता के आश्रित होकर वह भासित होता है। जैसे चिन्तामणि में जैसा कोई संकल्प रखता है, वैसा ही वह पदार्थ प्रकट होता है, और वह वास्तव में संकल्पमात्र ही होता है, वैसे ही जैसी जैसी भावना कोई करता है, वैसी ही वैसी आत्मा के आश्रय से भासित होता है। अनन्त जगत् आत्मरूपी मणि के आश्रय में स्थित होते हैं। जैसी कोई भावना करता है, वैसी ही उसको देख पड़ती है। हे राम ! आत्मरूपी संपुट से जगतरूपी रत्न निकलते हैं। जैसा स्फुरण होता है, वैसा ही जगत् भासित होता। जैसे शिला के ऊपर रेखाएँ होती हैं और उनसे जो नाना प्रकार के चित्र उभरते हैं सो अनन्यरूप हैं, वैसे ही आत्मा में जगत् अनन्यरूप है। जैसे शिला के ऊपर शंख-चक्रादिक

रेखाएँ उभरती हैं, वैसे ही आत्मा में यह जगत् प्रकट है, और वह आत्मा रूप है। आत्मरूपी शिला नीरन्ध्र है, उसमें कोई छिद्र नहीं। जैसे जल में तरङ्ग जलरूप होते हैं तैसे ही ब्रह्म में जगत् ब्रह्मरूप है। वह ब्रह्म सम, शान्तरूप और सुषुप्तवत् स्थित है। उसमें जगत् कुछ उपजा नहीं, वह शिला की रेखाओं सा है। जैसे वेल के भीतर मज्जा होती है, वैसे ही ब्रह्म में जगत् स्थित है। जैसे आकाश में शून्यता, जल में द्रवता और वायु में स्पन्दता होता है, वैसे ही ब्रह्म में जगत् है। ब्रह्म और जगत् में कुछ भेद नहीं। जैसे शाखा और वृक्ष में कुछ भेद नहीं, वैसे ही ब्रह्म और जगत् में कुछ भेद नहीं—ब्रह्म ही जगत् है और जगत् ही ब्रह्म है।

हे राम ! इसमें भाव-अभाव या भेद-कल्पना कोई नहीं। ब्रह्मसत्ता ही प्रकाशती है और ब्रह्म ही जगतरूप होकर देख पड़ता है। जैसे मरुस्थल में सूर्य की किरणें जल के समान चमकती हैं, वैसे ही ब्रह्म जगतरूप होकर दिखता है। हे राम ! सुमेरु आदि पर्वत, तृण, वन और चित्त जगत-परिणाम से लेकर सब प्राणियों को विचार देखिये तो सर्वत्र परमसत्ता ही देख पड़ती है और सब पदार्थों में सूक्ष्मभाव से वही सत्ता व्यापी है। जैसे जल का रस वनस्पति में व्यापा हुआ है, वैसे ही सब जगत् में सूक्ष्मरूप से आत्मसत्ता व्यापी हुई है। जैसे एक ही रस-सत्ता, वृक्ष, तृण और गुच्छों में व्यापी हुई है। और एक ही अनेकरूप भासित होती है, वैसे एक ही ब्रह्मसत्ता अनेकरूप भासती है। हे राम ! जैसे मोर के अण्डे में अनेक रङ्ग होते हैं और जब अण्डा फूट जाता है तब उससे शनैःशनै अनेक रङ्ग प्रकट होते हैं और वह एक ही रस अनेक रूप हो भासित होता है, वैसे एक ही आत्मा अनेकरूप से जगत के आकार में भासित होती है। जैसे मोर के अण्डे में एक ही रस होता, परन्तु जो दीर्घसूत्री अज्ञानी हैं, उनको भविष्य के अनेक रङ्ग जो उसमें भासित होते हैं सो विना उपजे ही उपजे भासते हैं, वैसे ही यह जगत् अनउपजा ही अज्ञानी के हृदय में नानात्व युक्त स्थित होता और जो ज्ञानवान् हैं उनको एकरस ब्रह्मसत्ता ही देख पड़ती है। जैसे मोर का रस परिणाम को न प्राप्त होने पर एकरस है, और परिणाम को

प्राप्त होकर नानारूप होने पर भी एकरस है, वैसे ही यह जगत् जब परमात्मा में भासित होता है तब भी परमात्मा ही है और जब नानारूप प्रतीत होता है, तब भी भिन्न नहीं है, परिणाम को नहीं प्राप्त हुआ, परन्तु अज्ञानी को नानात्व भासित होता है और ज्ञानी को एकसत्ता ही भासित होती है। अथवा इस दृष्टान्त का दूसरा अर्थ यह है कि जैसे मोर के अण्डे में नानात्व कुछ नहीं हुआ, पर जिसकी दुर्दृष्टि है, उसे उसमें अनउपजा नानात्व भासित होता है और जिसकी दुर्दृष्टि नहीं, उसमें बीज ही भासित होता है, नानात्व नहीं भासता, वैसे ही जिनको अज्ञानरूपी दुर्दृष्टि है उनको अनउपजा ही जगत् नानात्वयुक्त देख पड़ता है और जो ज्ञान-दृष्टि से युक्त हैं, उनको एक ही ब्रह्म दिखता है और कुछ नहीं। हे राम! नानात्व जब भासित होता है तब भी वह कुछ नहीं है। जैसे मोर के अण्डे में नानारङ्ग होने पर भी वह एकरूप है, वैसे ही इस जगत् में भिन्न-भिन्न पदार्थ भासित होने पर भी एक ब्रह्मसत्ता है; द्वैत कुछ नहीं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे सत्ताउपदेशो नाम
षट्चत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ ४६ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे राम! जैसे अनउपजे रङ्ग जो मयूर के अण्डे में होते हैं, वे बीज से भिन्न कुछ नहीं, वैसे ही अहं-त्वं आदि जगत् आत्मा में अप्रकट होकर भी प्रतीत होता है। जैसे बीज में उन रङ्गों का उदय भी अनुदयरूप है, वैसे ही आत्मा में जगत् का उदय भी अनुदय-रूप है। आत्मसत्ता अनिर्वचनीय अशब्द पद है, वाणी से उसका वर्णन नहीं हो सकता। ऐसा सुख स्वर्ग तथा और किसी स्थान में भी नहीं है जैसा सुख आत्मा में स्थित होकर पाया जाता है। हे राम! आत्मसुख में विश्रान्ति पाने के निमित्त मुनीश्वर, देवता, सिद्ध और महाऋषि दृश्य-दर्शन का सम्बन्ध चेतने को त्यागकर स्थित होते हैं, इससे वह उत्तम सुख है। संवित् में संवेदन का फुरना जिनका निवृत्त हुआ है, उन पुरुषों को कोई दृश्यभावना नहीं होती और न कोई कर्म उनको स्पर्श करता है। प्राण भी उनके निःस्पन्द होते हैं। वे चित्तचेतन के सम्बन्ध

से रहित चित्र की मूर्ति से निश्चल शान्तरूप स्थित होते हैं। हे राम ! जब चित्तकला फुरती है, तब संसारभ्रम प्राप्त होता है और जब चित्त का फुरना मिट जाता है तब शान्तरूप अद्वैत स्थित होता है। जैसे युद्ध राजा की सेना करती है और जीत-हार राजा की होती है, वैसे ही चित्त के स्फुरण द्वारा आत्मा में बन्धन व मोक्ष होता है। यद्यपि आत्मा सत्‌रूप और अच्युत है, तथापि मन, बुद्धि और अन्तःकरण के द्वारा आत्मा में बन्धन व मोक्ष भासित होता है। आत्मा सबका प्रकाशक है—जैसे चन्द्रमा की चाँदनी वृक्षादि को प्रकाशित करती है, वैसे ही आत्मा सब पदार्थों को प्रकाशित करता है।

वह आत्मा न दृश्य है, न उपदेश का विषय है, न विस्तारूप है, न दूर है; केवल चैतन्यरूप अनुभव आत्मा है। वह न देह है, न इन्द्रिय है, न गुण है, न चित्त है, न वासना है, न जीव है, न स्पन्दन है, न और को स्पर्श करता है। न आकाश है, न सत् है, न असत् है, न मध्य है, न शून्य है, न अशून्य है, न देश, काल, वस्तु है, न अहं है, न इतर इत्यादिक है। वह सब शब्दों से परे और केवल अनुभव गम्य है। उसका न आदि है, न अन्त है। न उसे शस्त्र काट सकते हैं, न अग्नि जला सकती है, न जल गला सकता है। न यह है, न वह है। न उसे वायु सोख सकती है और न किसी की सामर्थ्य उस पर चलती है। वह चित्तरूपी आत्मतत्त्व न जन्मता है और न मरता है। देहरूपी घट अनेक बार उपजते हैं और अनेक बार नष्ट होते हैं। आत्मारूपी आकाश सबके भीतर-बाहर अखण्ड अविनाशी है। जैसे अनेक घटों में एक ही आकाश स्थित होता है, वैसे ही अनेक पदार्थों में एकही ब्रह्मसत्ता आत्मरूप से स्थित है।

हे राम ! जो कुछ स्थावर-जङ्गम जगत् देख पड़ता है सो सब ब्रह्मरूप है। ब्रह्म निर्धर्म, निर्गुण, निरवयव, निराकार, निर्मल, निर्विकार, आदि-अन्त से रहित, सम और शान्तरूप है—ऐसी दृष्टि का आश्रय लेकर स्थित होओ। हे राम ! इस दृष्टि का आश्रय ग्रहण करोगे तो बड़े-बड़े कर्म भी तुमको स्पर्श न करेंगे। जैसे आकाश को बादल

स्पर्श नहीं करते, वैसे ही तुमको कर्म स्पर्श न करेंगे। यह काल, क्रिया, कारण, कार्य, जन्म, स्थिति, संहार आदि संसरणरूप संसार सब ब्रह्म रूप है—इसी दृष्टि का आश्रय ग्रहण करके विचरो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे ब्रह्मएकतामतिपादनं नाम सप्तचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ ४७ ॥

राम ने पूछा, हे भगवन्! यदि ब्रह्म में कोई विकार नहीं तो भाव-अभावरूप जगत् कैसे भासित होता है? वशिष्ठजी बोले, हे राम! प्रथम तो यह सुनो कि विकार किसको कहते हैं। वस्तु अपने पूर्वरूप को त्यागकर विपरीत रूप को प्राप्त हो और फिर पूर्व के स्वरूप को न प्राप्त हो, उसको विकार कहते हैं। जैसे दूध से दही होकर फिर दूध नहीं होता, जैसे बालक अवस्था बीत जाती है तो फिर नहीं आती और जैसे युवा अवस्था गई हुई फिर नहीं आती; इसका नाम विकार है। परब्रह्म निर्मल है। आदि में निर्विकार है, अन्त में भी निर्विकार है। मध्य में जो उसमें कुछ विकार या मल भासित होता है, उसका मूल अज्ञान है। मध्य जो भी ब्रह्म ज्यों का त्यों अविकारी है। हे राम! जो पदार्थ विपर्ययरूप हो जाता है, वह फिर अपने रूप को नहीं प्राप्त होता। ब्रह्मसत्ता सदा ज्यों की त्यों अद्वैतरूप है और आत्मानुभव में प्रकाशित होती है। जो कभी अन्यथारूप को प्राप्त न हो, उसको विकार कैसे कहिये? हे राम! जो वस्तु विचार और ज्ञान से निवृत्त हो जाय, उसको भ्रममात्र जानिये। वह वास्तव में कुछ नहीं। जो कुछ विकार है, वह अज्ञान से भासित होता है और जब आत्मबोध होता है तब निवृत्त हो जाता है। जिसके बोध से विकार नष्ट हो जाय, उसे विकार कैसे कहिये? ब्रह्म शब्द से जिसका निरूपण होता है, वह निर्वेदरूप आत्मा है। जो आदि अन्त में सत् हो, उसे मध्य में भी सत् जानिये। जो इससे भिन्न हो, उसे अज्ञान जानिये। आत्मरूप सदा सर्वदा समरूप है। आकाश और पवन भी अन्यभाव को प्राप्त हो जाते हैं, परन्तु आत्मतत्त्व कदापि अन्यभाव को नहीं प्राप्त होता। वह तो प्रकाशरूप एक नित्य और निर्विकार ईश्वर है; भाव अभाव विकार

को कभी नहीं प्राप्त होता। राम ने पूछा, हे भगवन्! जब एकतत्त्व विद्यमान और ब्रह्म सर्वदा निर्मलरूप है तो उस संवित् ब्रह्म में यह अविद्या कहाँ से आई? वशिष्ठजी बोले, हे राम यह सब ब्रह्म है; आगे भी ब्रह्म था और पीछे भी ब्रह्म होगा। उस निर्विकार और आदि, अन्त, मध्य से रहित ब्रह्म में अविद्या कभी नहीं रहती, यह निश्चय है। जो वाच्य-वाचक शब्द से उपदेश के निमित्त ब्रह्म कहता है, उसमें अविद्या कहाँ है? हे राम! 'अहं' 'त्वं' आदिक जगत् भ्रम और अग्नि, वायु आदिक सब ब्रह्मसत्ता है, अविद्या रज्चकमात्र नहीं। जिसका नाम ही अविद्या है, उसे भ्रममात्र और असत जानो। जो विद्यमान ही नहीं, उसका नाम क्या कहिये?

फिर रामजी ने पूछा, हे भगवन्! उपशम प्रकरण में आपने क्यों कहा था कि अविद्या है और अब कैसे कहते हो कि वह विद्यमान नहीं है। वशिष्ठजी बोले, हे राम! इतने काल तक तुम अबोध थे, इस निमित्त मैंने तुम्हें जगाने के निमित्त युक्ति कल्पना कर वैसा कहा था और अब तुम प्रबुद्ध हुए हो, इसलिए मैंने कहा कि अविद्या अविद्यमान है।

हे राम! अविद्या, जीव और जगत् आदिक का क्रम अप्रबुद्ध को जगाने के निमित्त वेदवादियों ने वर्णन किया है। जब तक मन अप्रबुद्ध होता है, तब तक अविद्या का भ्रम बना रहता है और युक्ति के बिना अनेक उपायों से भी उसे बोध नहीं होता। जब बोधवान् होता है, तब सिद्धान्त को उपदेश की युक्ति के बिना भी पाता है। पर अबोध मन युक्ति के बिना नहीं पा सकता। हे राम! जो कार्य युक्ति से सिद्ध होता है, वह और यत्न से नहीं सिद्ध होता। जैसे युक्तिरूपी दीपक से अन्धकार दूर होता है, और बल यत्न से नहीं निवृत्त होता, वैसे ही युक्ति के बिना अन्य यत्न से अज्ञान की निद्रा निवृत्त नहीं होती। यदि अप्रबुद्ध को सर्वब्रह्म सिद्धान्त का उपदेश कीजिये तो वह उपदेश व्यर्थ होता है। जैसे कोई दुखी अपना दुःख दीवाल के आगे जाकर कहे तो उसका कहा वह नहीं सुनती और उसका कहना वृथा होता है, वैसे ही अप्र-

बुद्ध को सर्व-ब्रह्म का उपदेश व्यर्थ होता है । मूढ़ युक्ति से जगता है और बोधवान् को प्रत्यक्ष तत्त्व का उपदेश होता है। हे रामजी ! अब तुम यह धारणा करो कि ब्रह्म, तीनों जगत् और अहं, त्वं आदिक सब ब्रह्म हैं, द्वैत कल्पना कोई नहीं। फिर जो तुम्हारी इच्छा हो सो करो, दृश्य-संवेदन न होगा, सदा आत्मा में स्थित रहोगे। इस प्रकार अनेक कर्मों में भी लिप्त न होगे।

हे राम ! चैतन्यतत्त्व परमात्मा प्रकाशरूप है। वह सदा अहंभाव से स्फुरित होता है। ऐसा जो अनुभवरूप है उसी में चलते, बैठते, खाते, पीते, चेष्टा करते स्थित रहो, तब तुम्हारा अहं-ममभाव निवृत्त हो जायगा। सब प्राणियों में स्थित शान्तरूप ब्रह्म को तुम प्राप्त होगे और आदि-अन्त से रहित शुद्ध संवित्मात्र प्रकाशरूप आत्मा को देखोगे। जैसे मृत्तिका के पात्र घट आदि सब मृत्तिका के ही हैं, वैसे ही तुम सब प्राणियों में आत्मा को देखोगे। जैसे मृत्तिका से घट भिन्न नहीं, वैसे ही आत्मा से जगत् भी भिन्न नहीं। जैसे वायु से स्पन्दन और जल से तरङ्ग भिन्न नहीं, वैसे ही आत्मा से प्रकृति भिन्न नहीं। जैसे जल और तरङ्ग शब्दमात्र से दो हैं, वैसे ही आत्मा और प्रकृति शब्दमात्र से दो हैं, पर भेद कुछ नहीं। केवल अज्ञान से भेद दिखता है और ज्ञान से नष्ट हो जाता है। जैसे रस्सी में सर्प दिखता है, वैसे ही आत्मा में प्रकृति है। हे राम ! चित्त वृक्ष है और कल्पना बीज। जब कल्पनारूपी बीज बोया जाता है, तब चित्तरूपी अंकुर उत्पन्न होता है और उससे जब भावरूप संसार उत्पन्न होता है, तब आत्मज्ञान की अग्नि कल्पनारूपी बीज दग्ध और चित्तरूपी अंकुर नष्ट हो जाता है। हे राम ! चित्तरूपी अंकुर से सुख दुःखरूपी वृक्ष उत्पन्न होता है। जब चित्तरूपी अंकुर नष्ट हो, तब सुख-दुःखरूपी वृक्ष कहाँ उपजे ? हे राम ! जो कुछ द्वैतभ्रम है सो अबोध से उपजता और बोध से नष्ट हो जाता है। आत्मा जो परमार्थ सार है, उसकी भावना करो, तब संसारभ्रम से मुक्त होगे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे स्मृतिविचारयोगोनामाष्टचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ ४८ ॥

राम ने पूछा, हे मुनीश्वर ! जो कुछ जानने योग्य था सो मैंने जाना और जो कुछ देखने योग्य था सो देखा। अब मैं आपके ज्ञानरूपी अमृत से सिंचकर परमपद में पूर्णात्मा हुआ हूँ। हे मुनीश्वर ! यह अब मुझको अनुभव हुआ है कि पूर्ण ने सब विश्व पूर्ण किया है, पूर्ण से पूर्ण प्रतीत है और पूर्ण में पूर्ण ही स्थित है—द्वैत कुछ नहीं। हे मुनीश्वर ! ऐसा जानकर भी मैं लीला और बोध की वृद्धि के निमित्त आपसे पूछता हूँ। जैसे बालक पिता से पूछता है तो पिता बुरा नहीं मानता, वैसे ही आप रुष्ट न होना। हे मुनीश्वर ! श्रवण, नेत्र, त्वचा, रसना और घ्राण, ये पाँचों इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष देख पड़ती हैं, पर मरे पर विषय को क्यों नहीं ग्रहण करतीं और जीवित रहने पर कैसे ग्रहण करती हैं ? घटादिक की तरह बाहर से ये जड़ हैं, फिर हृदय में अनुभव कैसे होता है ? और लोहे की शलाका की तरह ये भिन्न-भिन्न हैं, फिर इकट्ठी कैसे हुई हैं ? परस्पर जो एक आत्मा में अनुभव होता है कि मैं देखता हूँ, मैं सुनता हूँ, ये वृत्तियाँ क्योंकर इकट्ठी हुई हैं ? मैं सामान्यभाव से जानता भी हूँ, परन्तु विशेष रूप से आपसे पूछता हूँ।

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! इन्द्रियाँ, चित्त और घट, पट आदि पदार्थ निर्मल चैतन्यरूप आत्मा से भिन्न नहीं हैं। वह आत्मतत्त्व आकाश से भी सूक्ष्म और स्वच्छ है। हे राम ! जब चैतन्यतत्त्व से पुर्यष्टका (चित्त) की भावना निकली तो उसने आगे इन्द्रियगण को देखा। इन्द्रियगण चित्त से पहले हुए हैं। इनकी घनता से चैतन्यतत्त्व पुर्यष्टका को प्राप्त हुआ है। उसी में सब घटादिक पदार्थ प्रतिबिम्बित हुए हैं और पुर्यष्टका में भासमान हैं। राम ने पूछा, हे मुनीश्वर ! जिसने अनन्त जगत् रचे हैं, जो महाआदर्श में प्रतिबिम्बित हैं, पुर्यष्टका का रूप क्या है, और कैसे हुई ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! आदि-अन्त से रहित जगत् का बीजरूप जो अनादि ब्रह्म है, वह निरामय और प्रकाशरूप है वही अनादि ब्रह्म कल्पना और कलना से रहित, शुद्ध, चिन्मात्र और अचेतन जगत् का बीज है। वह जब कलना के सम्मुख हुआ, तब उसका नाम जीव हुआ। उस जीव ने जब देह को ग्रहण

किया और अहंभाव उपजा. तब अहंकार हुआ। वह जब मनन करने लगा. तब मन हुआ। जब निश्चय करने लगा. तब बुद्धि हुई। जब पदार्थों के देखनेवाली इन्द्रियों की भावना हुई. तब इन्द्रियाँ हुईं। जब देह की भावना करने लगा. तब देह हुई। जब घट-पट की भावना हुई. तब घट-पट हुए। इसी प्रकार जैसी-जैसी भावना होती गई. वैसे ही पदार्थ होते गये। हे राम! यही जिसका स्वभाव है. उसे पुर्यष्टका कहते हैं। स्वरूप से विपर्ययरूपी दृश्य की ओर भावना होने से और चित्तकला में हुए कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुख, दुःख आदि की भावना. कलना और अभिमान से उसको जीव कहते हैं।

निदान जैसी-जैसी भावना का आकार हुआ वैसे ही वैसी वासना वह करता गया। जैसे जल में सींचा हुआ बीज डाल, पत्ते, फूल और फल के रूप को प्राप्त होता है. वैसे ही वासना से सींचा हुआ जीव स्वरूप के प्रमाद से महाभ्रमजाल में गिरता है और जानता है कि मैं मनुष्य-देह सहित हूँ अथवा देवता या स्थावर हूँ. पर यह नहीं जानता कि मैं चिदात्मा हूँ। वह अपने को देह से मिला हुआ परिच्छिन्न और तुच्छरूप देखता है। इस मिथ्याज्ञान से डूबता है और देहाभिमान से वासना के वश चिरकाल पर्यन्त ऊँचे, नीचे और बीच में भ्रमता है। जैसे समुद्र में आया हुआ काष्ठ तरङ्गों से उछलता है। और घटीयन्त्र का लंगर नीचे ऊपर जाता है. वैसे ही जीव वासना के वश हो नीचे और ऊपर भ्रमता है। जब विचार और अभ्यास करके आत्मबोध को प्राप्त होता है. तब संसार-बन्धन से मुक्त होकर आदि-अन्त से रहित आत्मपद को प्राप्त होता है। बहुत काल तक योनिरेखा को भोग कर फिर आत्म-ज्ञान से परमपद को प्राप्त होता है। हे राम! स्वरूप से गिरे हुए जीव इस प्रकार भ्रमते और शरीर पाते हैं। अब वह सुनो कि इन्द्रियाँ मृतक होने पर विषयों को क्यों नहीं ग्रहण करतीं। हे राम! जब शुद्धतत्त्व में चित्तकलना उठती है. तब वह जीवरूपी होती है और मन सहित षट्इन्द्रियों को लेकर देहरूपी गृह में स्थित हो बाहर के विषयों को ग्रहण करती है। मन सहित षट्इन्द्रियों में सम्बन्ध से विषय का ग्रहण

होता है; इनसे रहित होने पर विषयों का कदापि ग्रहण नहीं हो सकता। इस प्रकार इनमें स्थित होकर जीवकला विषय को ग्रहण करती है। यद्यपि इन्द्रियाँ भिन्न-भिन्न हैं, तो भी इनको जीवकला एकत्र कर लेती हैं और ये अहंकाररूपी तागे से इकट्ठी होती है। देह और इन्द्रियाँ मन की तरह है इनको इकट्ठा करके जीव कहता है कि मैं देखता, सूँघता, सुनता, फिरता, बोलता हूँ और इन्हीं के अभिमान से विषय को ग्रहण करता है।

हे राम ! देह, इन्द्रियाँ और मन आदि जड़ हैं, परन्तु आत्मा की सत्ता पाकर अपने-अपने विषय को ग्रहण करते हैं। जबतक पुर्यष्टका देह में होती है, तबतक इन्द्रियाँ भी विषयों को ग्रहण करती हैं। जब पुर्यष्टका देह से निकल जाती है, तब इन्द्रियाँ भी विषयों को नहीं ग्रहण करतीं। हे राम ! ये जो प्रत्यक्ष नेत्र, नासिका, कान, जिह्वा और त्वचा आदि अंग देख पड़ते हैं, ये इन्द्रियाँ नहीं हैं। इन्द्रियाँ तो सूक्ष्म तन्मात्रा हैं। ये तो उनके रहने के स्थान हैं। जैसे गृह में झरोखे होते हैं, वैसे ही ये स्थान हैं। हे राम ! अब जीव का रूप सुनो। आत्मतत्त्व सब जगह व्याप्त है, परन्तु उसका प्रतिबिम्ब वहीं भासित होता है, जहाँ निर्मल स्थान होता है। जैसे निर्मल जल में प्रतिबिम्ब पड़ता है, अथवा जैसे दो कुण्ड हों, एक जल से पूर्ण और दूसरा जल से रहित, तो सूर्य का प्रकाश तो दोनों में तुल्य होता है, पर जिसमें जल है उसमें प्रतिबिम्बित होता है और जल के डोलने से प्रतिबिम्ब भी हिलता दिखता है, पर जहाँ जल नहीं है वहाँ प्रतिबिम्ब भी नहीं, वैसे ही जहाँ सात्त्विक अंश अन्तःकरण होता है, वहाँ आत्मा का प्रतिबिम्ब जीव भी होता है और जब तक जीव शरीर में रहता है, तब तक शरीर चेतन भासित होता है; पर जब वह जीवकला पुर्यष्टकारूप शरीर को त्याग जाती है, तब शरीर जड़ भासित होता है। जैसे कुण्ड से जल निकल जाय तो कुण्ड सूर्य के प्रतिबिम्ब से हीन हो जाता है, वैसे ही अन्तःकरण और तन्मात्र पुर्यष्टका में आत्मा का प्रतिबिम्ब होता है। जब पुर्यष्टका शरीर को त्याग जाती है, तब शरीर जड़ भासित होता है।

हे राम ! जैसे झरोखे के आगे कोई पदार्थ रखिये तो झरोखे को पदार्थ का ज्ञान नहीं होता और जब उसका स्वामी देखता है तब पदार्थ का ग्रहण करता है. वैसे ही इन्द्रियों के स्थानों में जो सूक्ष्मतन्मात्रा ग्रहण करनेवाली होती है. वही विषयों को ग्रहण करती है. और जब तन्मात्रा नहीं होती. तब इन्द्रियाँ ग्रहण नहीं कर सकतीं। हे राम ! प्रत्यक्ष देखो कि कथा का श्रोता पुरुष कथा में बैठा होता है. पर यदि उसका चित्त और जगह निकल जाता है. तब प्रत्यक्ष बैठा रहता है; किन्तु कुछ नहीं सुनता. क्योंकि उसकी श्रवण इन्द्रिय मन के साथ गई है; वैसे ही जब पुर्यष्टका निकल जाती है तब मृतक होता है और इन्द्रियाँ भी विषयों को ग्रहण नहीं करतीं। हे राम ! अहं-मम आदि दृश्य भी सर्ग के आदि में आत्मरूपी समुद्र से तरङ्ग की तरह निकला है. उसके पश्चात् दृश्य फलना हुई है। अतएव न देश है. न काल है. न क्रिया है। यह सब असतरूप है; वास्तव में कुछ नहीं। यह जानकर संसार के सुख. दुःख. हर्ष. शोक. राग. द्वेष से रहित होकर विचरो. तब तुम माया से मुक्त हो जाओगे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे संवेदनविचारो नामैकोन पञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ ४९ ॥

वशिष्ठजी बोले. हे राम ! वास्तव में इन्द्रियादिक गण कुछ उपजे नहीं हैं। आदि-ब्रह्मा की उत्पत्ति मैंने तुमसे कही और तुमने सुनी है। जैसे आदि-जीव पुर्यष्टकारूप ब्रह्मा उपजे हैं. वैसे ही और भी सब उपजे हैं। हे राम ! जीव पुर्यष्टका में स्थित होकर जैसी-जैसी भावना करता गया. वैसा ही वैसा भासित होने लगा है और फिर उसी की सत्ता पाकर अपने-अपने विषय को ग्रहण करने लगा है। वास्तव में इन्द्रियाँ भी कुछ वस्तु नहीं। सब आत्मा के आभास से चेतती हैं। इन्द्रियाँ और इन्द्रियों के विषय संवेदन से उपजे हैं। ये जैसे उपजे हैं. सो तुमसे कह चुके हैं। हे राम ! शुद्ध संवित् सत्तामात्र से जो अहं का उन्मेष हुआ. वही संवेदन है। वही संवेदन जीवरूप पुर्यष्टकाभाव को प्राप्त होकर बुद्धि. मन और पञ्चतन्मात्रा को उपजाकर आपही उनमें

प्रवेशकर स्थित हुआ है। उसी को पुर्यष्टका कहते हैं। परन्तु यह पुर्यष्टका भी स्पन्दन में उपजी है। आत्मा से कुछ नहीं उपजा। वह आत्मा न एक है, न अनेक। परमात्मतत्त्व अस्ति अनामय है, और उसमें संवेदन भी अनन्यरूप है। हे राम! उसमें न कोई द्वैत कलना है और न कुछ मनशक्ति है; केवल शान्त सत्ता है। उसी को परमात्मा कहते हैं। वह मनसहित षट् इन्द्रियों से अतीत अ-चैत्य (चित्त से रहित) और चिन्मात्र है। उससे जीव उत्पन्न हुआ है। यह भी मैं उपदेश के निमित्त कहता हूँ; वास्तव में कुछ उपजा नहीं, केवल भ्रममात्र है। जहाँ जीव उपजा है, वहाँ उसको अहंभावरूप विपर्यय हुआ है। यही अविद्या है, जो उपदेश से लय हो जाती है।

जैसे निर्मली से जल की मलिनता दूर हो जाती है, वैसे ही गुरु और शास्त्र के उपदेश से जब अविद्या मिट जाती है, तब भ्रमरूप आकार शान्त हो जाते हैं और ज्ञानरूप आत्मा शेष रहता है, जो आकाश से भी सूक्ष्म है। जैसे परमाणु के मुकाबले में सुमेरु स्थूल होता है, वैसे ही आत्मा के मुकाबले में आकाश स्थूल है। हे राम! आत्मा के आगे जो स्थूलता भासित होती है, वह भी भ्रममात्र है। जो बड़े-बड़े आरम्भ दिखते हैं, वे भी असत् हैं, तब और पदार्थों की क्या बात है? हे राम! आत्मा में जगत् नहीं पाया जाता; क्योंकि वस्तु असम्यक् ज्ञान से भासित होती है, सम्यक्ज्ञान से नहीं रहती। जो कुछ—जगत् के प्रपंच देख पड़ते हैं, वे सब मायामात्र हैं। उनसे कुछ अर्थ सिद्ध नहीं होता। जैसे मृगतृष्णा का जल पिया नहीं जाता, वैसे ही जगत् के पदार्थों से कोई परमार्थ नहीं सिद्ध होता। वे सब अज्ञान से भासित होते हैं। हे राम! जो वस्तु सम्यक्ज्ञान से प्राप्त हो, उसे सत् जानिये और जो सम्यक्ज्ञान से न रहे, उसे भ्रममात्र जानिये। यह जीव-पुर्यष्टका अविद्धक भ्रम है, अर्थात् असत् ही सत् भासित होता है। जब गुरु और शास्त्रों का विचार होता है, तब जगत् का भ्रम मिट जाता है।

पुर्यष्टका में स्थित होकर जीव जैसी भावना करता है, वैसे ही सिद्धि होती है। जैसे बालक अपनी परछाहीं में वैताल की कल्पना करता है,

वैसे ही जीवकला अपने में देश, काल, तत्त्व आदिकी कल्पना करती है और भावना के अनुसार उसको वे भासित होते हैं। जैसे बीज से पत्ते, डाल, फूल, फल आदि का विस्तार होता है, वैसे ही तन्मात्रा से सब प्राणी, भीतर, बाहर, देश, काल, क्रिया, कर्म आदि सब प्रकट हुआ है। आदि-जीव चेतकर जैसा संकल्प रखता है, वैसा ही भासित होता है। यह संवेदन भी आत्मा से भिन्न नहीं है। जैसे मिरच में तीक्ष्णता और आकाश में शून्यता अलग नहीं है, वैसे ही आत्मा से संवेदन अलग नहीं। उस संवेदन ने उपजकर निश्चय जाना है कि ये पदार्थ ऐसे हैं, ये ऐसे हैं, इसी से व वैसे ही स्थित हुए, अन्यथा कभी नहीं होते। आदिजीव ने प्रकट होकर जो निश्चय धारण किया, उसी का नाम नीति है। वह स्वरूप से सर्वव्यापी आत्मसत्ता है। आत्मसत्ता ही ये सब रूप रखकर स्थित हुई है। जैसे एक ही ऊख का रस, गुड़, शक्कर आदि के और मृत्तिका घट, पटादि के आकार को रखती है, वैसे ही आत्मसत्ता सर्व ज्ञान को पाती है। जैसे एक ही जल का रस पत्ते, डाल, फूल, फलादिक होकर भासित होता है, वैसे एक ही आत्मसत्ता घट, पट और दीवाल आदि के आकार में भासित होती है।

हे राम! आदि-जीव ने जैसे निश्चय किया, वैसे ही स्थित है अन्यथा कदापि नहीं होता, परन्तु जगत् वास्तव में भ्रममात्र है: वास्तव में न बिम्ब है और न प्रतिबिम्ब। ये द्वैत में होते हैं और द्वैत कुछ नहीं केवल चिदानन्द ब्रह्म आत्मतत्त्व अपने आप में स्थित है। देहादिक भी सब चिन्मात्र हैं। हे राम! जो कुछ जगत् दिखता है, सो आत्मा का किंचनरूप है। जैसे रस्सी सर्परूपी जान पड़ती है, वैसे ही आत्मा जगत-रूप देख पड़ता है। जैसे सुवर्ण भूषण के रूप में भासित होता है, वैसे ही आत्मा दृश्यरूप होकर भासित होता है। जैसे सुवर्ण में भूषण वास्तविक नहीं होते, वैसे ही आत्मा में दृश्य वास्तविक नहीं। जैसे स्वप्न का विषय देश असत् है, पर सत् सा लगता है, वैसे ही जीव को देह पृथक् भासित होती है। हे राम! आत्मसत्ता ज्यों की त्यों है परन्तु स्फुरित होने से अनेक रूप रखती है। जैसे एक नट अनेक स्वाँग

भरता है, वैसे ही आत्मसत्ता देहादिक अनेक आकार रखती है। जैसे स्वप्न में एक ही मनुष्य अनेकरूप रखकर चेष्टा करता है, वैसे ही जगत् में आत्मसत्ता नानारूप रखती है।

हे राम ! आत्मा नित्य शुद्ध और सबका आत्मरूप है। अपने स्वरूप के प्रमाद से वह अपने जन्म-मरण को जानता है, पर वे जन्म-मरण असत् हैं। जैसे कोई पुरुष अपने को स्वप्न में श्वानरूप देखे, वैसे ही यह अपने को जन्मता-मरता देखता है। जैसे इसको पूर्वभावना है, भ्रम से असत् को सत् जानता है और जैसे स्वप्न में वस्तु को अवस्तु और अवस्तु को वस्तु देखता है, वैसे ही वह जाग्रत् में विपर्यय (उल्टा) देखता है। जैसे जाग्रत् के ज्ञान से स्वप्न का भ्रम निवृत्त हो जाता है, वैसे ही आत्माधिष्ठान के ज्ञान से जगत् का भ्रम निवृत्त हो जाता है। जैसे पहले का किया दुष्कृत हो तो उसके पीछे सुकृत करने से वह घट जाता है, वैसे ही पूर्व-संस्कार से जब नीच वासना होती है और फिर आत्मतत्त्व का अभ्यास करता है तो पुरुष के प्रयत्न से मलिन वासना नष्ट हो जाती है। जब तक वासना मलिन होती है, तब तक जीव उपजता, मरता और गोते खाता है। जब सन्तों के संग और सत्शास्त्रों के विचार से आत्मज्ञान होता है, तब संसारबन्धन से छूटता है—अन्यथा नहीं छूटता।

हे राम ! वासनारूपी कलङ्क से जीव घिरा हुआ है और देहरूपी मन्दिर में बैठकर अनेक भ्रम के दृश्य देखता है। आदि-जीव को जो भ्रम हुआ है सो अपने स्वरूप को त्यागकर अनात्म भ्रम को देखने से जैसे बालक परछाहीं में भूत की कल्पना करे वैसे ही जीव ने कल्पना कर जैसी भावना की, वैसा ही भासित होने लगा। आदि-जीव पुर्यष्टका में स्थित हुआ है। बुद्धि, मन, अहंकार और तन्मात्रा का नाम पुर्यष्टका है और देह अन्तवाहक है। चैतन्य आत्मा अमूर्ति है। आकाश भी उसके आगे स्थूल है। प्राणवायु गुच्छा के और देह सुमेरु के समान है। ऐसा जीव सूक्ष्म है। सुषुप्ति में जड़रूप और स्वप्नभ्रम, दोनों अवस्थाओं में स्थावर-जङ्गमरूपी जीव भटकते हैं, कभी सुषुप्ति में और

कभी स्वप्न में स्थित होते हैं। इसी प्रकार दोनों अवस्थाओं में जीव भटकते हैं। हे राम ! सबकी देह अन्तवाहक है, और उसी देह से सब चेष्टा करते हैं। कभी स्थावर में जाकर वृक्ष और पत्थर आदि की योनि पाते हैं और कभी जब स्वप्न में होते हैं, जब जङ्गमयोनि पाते हैं। वह भी कर्मवासना के अनुसार पाते हैं। जब तामसी वासना घनी होती है, तब कल्पवृक्ष चिन्तामणि आदि स्वरूप को प्राप्त होते हैं। जब केवल तामसी वासना घनी मोहरूप होती है, तब वृक्ष और पत्थर आदि की योनि पाते हैं। इसका नाम सुषुप्ति है। सो लय घना मोह रूप है और इससे भिन्न जङ्गम विक्षेपरूप स्वप्न अवस्था है, कभी उसमें होता है और कभी सुषुप्तिरूप स्थावर होता है।

हे राम ! सुषुप्ति अवस्था में वासना सुषुप्तिरूप होती है। वह फिर उगती है, इससे मोहरूप है। उस सुषुप्ति से जब उतरता है, तब विक्षेप रूप स्वप्नावस्था होती है और जब बोध होता है, तब जाग्रत अवस्था प्राप्त होती है। जाग्रत अवस्था दो प्रकार की है। जाग्रत वही है जो लय और विक्षेप से रहित चेतन अवस्था है। उससे रहित और मनो-राज्य सब स्वप्नरूप है। एक जीवन्मुक्त जाग्रत और दूसरी विदेहमुक्ति है। जीवनमुक्ति तुर्यारूप और विदेहमुक्ति तुर्यातीत है। यह अवस्था जीव को बोध से प्राप्त होती है और जीव को बोध पुरुष-प्रयत्न से होता है—अन्यथा नहीं होता। हे राम ! जीव का उदय ज्ञानरूप है। यदि दृश्य की ओर लगता है, तो वही हो जाता है और यदि सत् की ओर लगता है, तो सतरूप हो जाता है। जब दृश्य के सम्मुख होता है, तब दीर्घ भ्रम को देखता है। जीव के भीतर जो सृष्टिरूप होकर स्फुरित होता है, वह भी आत्मसत्ता से भिन्न कोई वस्तु नहीं है। जैसे घटलोही में दोनों के समान जल भी उछलता है और वह उस जल से भिन्न वस्तु नहीं होता, वैसे ही आत्मा के सिवा जीव के भीतर और कुछ वस्तु नहीं है। यह सृष्टि जो भासित होती है, सो मायामात्र है। हे राम ! जीव को स्वरूप को प्रमाद से सृष्टि भासित होती है और सत् जैसी लगती है। उसे नाना प्रकार का विश्व प्रतीत होता है

और नाना प्रकार की वासनाएँ उठती हैं। उससे जीव बंधन को प्राप्त हुआ है। जब वासना का क्षय हो तब मुक्ति हो। हे राम ! मोहरूप घनी वासना का नाम सुषुप्ति या जड़ अवस्था है। वह क्षीण स्वप्न-रूप है। जब स्वरूप का प्रमाद होता है, तब दृश्य में सत्बुद्धि होती है और जब उसमें प्रतीत होती है तब नाना प्रकार की वासनाओं का उदय होता है। पर जब स्वरूप का साक्षात्कार होता है, तब संसार की सत्यता नष्ट हो जाती है, फिर वासना नहीं उठती।

हे राम ! घनी वासना तब तक उठती है, जब तक दृश्य में सत्बुद्धि होती है। जब जगत् का अत्यन्त अभाव होता है, तब वासना भी नहीं रहती। जैसे भूषण पिघलाकर जब सुवर्ण बन गया, तब भूषण-बुद्धि नहीं रहती। जो वस्तु अज्ञान से उपजी है, वह ज्ञान से लीन हो जाती है। वासना का भ्रम अबोध से उपजा है, वह बोध से लीन हो जाता है। हे राम ! घनी वासना से सुषुप्तिरूप जड़ अवस्था होती है, और क्षीण वासना से जीव स्वप्न देखता है। घनी वासनारूप मोह से जीव स्थावर अवस्था को प्राप्त होता है, मध्यवासना से तिर्यक्योनि पाता है अर्थात् पशु, पक्षी और सर्पादिक होता है; क्षीण वासना से मनुष्यादिक शरीर और नष्टवासना से मोक्ष पाता है। हे राम ! यह सब जगत् संकल्प से रचा है। घट-पट आदि जो बाहर देखते और ग्रहण करते हो, वे ही हृदय में स्थित हो जाते हैं, और जब उनको ग्रहण करते हो, तो ग्राह्य-ग्राहक का सम्बन्ध देखते हो कि यह मैंने ग्रहण किया है और यह मैंने लिया है। जो ज्ञानवान् है, वह न ग्रहण करने का अभिमान करता है और न कुछ त्यागने का अभिमान करता है। उसको भीतर-बाहर सब चिदाकाश भासित होता है। चैतन्यसत्ता का यह चमत्कार है; तीनों जगतरूप होकर वही प्रकाशती है, रञ्चकमात्र भी कुछ अन्य नहीं-केवल आत्मसत्ता अपने आपमें स्थित है। जैसे समुद्र में तरङ्ग और बुलबुले उठकर भासित होते हैं, परन्तु सब जल ही जल है—जल से भिन्न कुछ नहीं। वैसे ही आत्मा जगतरूप होकर भासित होता है, द्वैत नहीं है।

इति श्रीयो० वा० नि० यथार्थोपदेशो नाम पञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ ५० ॥

वशिष्ठजी बोले. हे राम ! जैसे जीव को स्वप्न में जो संसार उदय होता है, वह कल्पनामात्र होता है, न सत् है और न असत् है, जीव के चेतने से ही भ्रम भासित होता है, वैसे ही यह जाग्रत् अवस्था भ्रम-मात्र है—स्वप्न और जाग्रत् एकरूप है। जैसे स्वप्न में जाग्रत् का एक क्षण भी दीर्घकाल होता है, वैसे ही स्वरूप के प्रमाद से जाग्रत् भी एक दीर्घकाल का भ्रम हुआ है, जिससे जीव सत् को असत् और असत् को सत जानता है; जड़ को चेतन और चेतन को विपर्यय ज्ञान से जड़ जानता है। जैसे स्वप्न में एक ही जीव अनेकता को प्राप्त होता है, वैसे ही आदि-जीव एक से अनेक होकर भासित होता है। जैसे किसी स्थान में चोर का भ्रम भासित होता है, वैसे ही आत्मा में तीनों जगत् का भ्रम भासित होता है। जैसे सुषुप्ति से स्वप्नभ्रम उदय होता है, वैसे ही अद्वैततत्त्व आत्मा में जगत् का भ्रम होता है। आत्मा अनन्त, सर्वगत जीव का बीजरूप है, जैसा उसके आश्रय में स्फुरण होता है, वैसे ही सिद्ध होकर वह भासित होता है। हे राम ! जिस पुरुष की स्वरूप में स्थिति हुई है, वह सदा निःसंग होकर विचरता है। जैसे आगे चलकर द्वापर में विष्णुजी के निस्संगता के उपदेश से अर्जुन मुक्त होकर विचरेंगे, वैसे ही हे महाबाहो ! तुम भी विचरो। हे राम ! पांडु के पुत्र अर्जुन जैसे सुख से जन्म व्यतीत करेंगे और सब व्यवहारों में भी सुखी और स्वस्थ रहेंगे, वैसे ही तुम भी निस्संग होकर विचरो।

राम ने पूछा. हे ब्राह्मण ! पांडु के पुत्र अर्जुन कब होंगे और कैसे विष्णु भगवान् उनको निस्संग होने का उपदेश करेंगे ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! अस्ति-तन्मात्रतत्त्व में आत्मादिक संज्ञा कल्पित ही हैं। जैसे आकाश में आकाश स्थित है, वैसे ही निर्मलतत्त्व अपने आपमें स्थित है। जैसे सुवर्ण में भूषण और समुद्र में तरङ्ग उठते हैं, वैसे ही आत्मा में चौदह प्रकार के प्राणी फिरते हैं। जैसे जाल में पक्षी भ्रमते हैं, वैसे ही जगत् में जीव भ्रमते हैं। वहां ब्रह्मा चन्द्रमा, सूर्य, लोकपाल आदि होकर स्थित हैं और उन्होंने पञ्चभूतों के कर्म रचे हैं कि यह पुण्य ग्रहण करने योग्य है और यह पाप त्यागने योग्य है; पुण्य से

स्वर्गादिक सुख प्राप्त होता है और पाप से नरक होता है। यह मर्यादा लोकपाल प्रजापति ने स्थापित की है। इस प्रकार संसाररूपी नदी में जीव बहते हैं। संसाररूपी नदी अविच्छिन्न निरंतर बहती देख पड़ती है, पर यह क्षण-क्षण में नष्ट होती है। इस जगत् में सूर्य के पुत्र यमराज बड़े प्रतापी और तेजस्वी लोकपाल है। वही सब जीवों को मारते हैं और उस प्रवाह कार्य को चलाते हैं। उनका जीवों का मारना और दण्ड देना ही नियम है; परन्तु चित्त में वह पहाड़ की तरह अचल हैं। वह यमराज हरएक चौजुगी में कभी आठ, कभी सात, कभी बारह वा सोलह वर्षों का नियम रखकर किसी जीव को नहीं मारते और उदासीन की तरह स्थित होते हैं।

जब पृथ्वी में अधिक प्राणी हो जाते हैं, चलते को मार्ग नहीं रहता और कोई दुष्टजीव जीवों को दुःख देते हैं, जिससे पृथ्वी भारी और दुःखी होती है, तब पृथ्वी के भार को उतारने के निमित्त विष्णु भगवान् अवतार लेकर दुष्टजीवों के नाश और धर्ममार्ग की रक्षा करते हैं। हे राम ! इस प्रकार नियम के पालक यम को अपना काम करते अनन्त युग व्यतीत हो गये हैं। वैसे ही प्राणी और जगत् भी असंख्य हो गये हैं। इस सृष्टि का अब वैवस्वत यम (मनु) है। व आगे द्वादश-वर्ष पर्यन्त नियम करेगा और किसी को न मारेगा। तब जीव अकूरकर्म करने लगेंगे और पृथ्वी प्राणियों से भर जायगी। जैसे वृक्ष गुच्छों के साथ गुँथ जाते हैं, वैसे ही पृथ्वी भी प्राणियों से गुँथ जायगी, और जैसे चोर से डरकर स्त्री भर्त्ता की शरण जाती है, वैसे ही पृथ्वी भी दुःखित होकर विष्णु की शरण जायगी। तब विष्णुजी दो देह धारण कर पृथ्वी का भार उतारेंगे और सन्मार्ग स्थापित करेंगे। सब देवता भी अवतार लेकर उनके साथ आवेंगे और नरनायक होंगे। एक देह से विष्णु भगवान् वसुदेव के घर पुत्ररूप से प्रकट होंगे। उनका कृष्ण नाम होगा। और दूसरी देह से पाण्डु के गृह में अर्जुन नाम से युधिष्ठिर नामक धर्मपुत्र के भाई होंगे और समुद्र पर्यन्त पृथ्वी का राज्य करेंगे। उसके चाचा के पुत्र का नाम दुर्योधन होगा। उसका और

भीमसेन आदि पाण्डवों का बड़ा युद्ध होगा। दोनों ओर संग्राम की लालसा से अठारह अक्षौहिणी सेना इकट्ठी होगी और बड़े भयानक युद्ध होंगे। उनके द्वारा हरि पृथ्वी का भार उतारेंगे।

हे राम! उस सेना के युद्ध में विष्णु का अर्जुन नाम अवतार होगा। वह अर्जुन गाण्डीव धनुष धारण कर मानव स्वभाव में स्थित हो, हर्ष-शोकादिक-विकार-संयुक्त मोहाभिभूत होंगे। युद्ध में अपने बांधवों को देखकर मूर्च्छित होंगे और मोह और करुणा से उनके हाथ से धनुष गिर पड़ेगा। वह जब आतुर होंगे, तब बोध-देह से उनको हरि उपदेश करेंगे। जब दोनों सेनाओं के मध्य में अर्जुन मोहित होकर गिरेंगे, तब हरि कहेंगे कि हे राजसिंह अर्जुन! तुम मनुष्यभाव को प्राप्त हो क्यों मोहित हुए हो? इस कायरपन को त्याग करो। तुम तो परम प्रकाश आत्मतत्त्व हो। तुम सबका आत्मा, आनन्द, अविनाशी, आदि-अन्त-मध्य से रहित, सर्वव्यापी, परमअंकुशरूप, निर्मल, दुःख के स्पर्श से रहित, नित्य, शुद्ध, निरामय हो। हे अर्जुन! आत्मा न जन्मता है, न मरता है; होकर भी फिर कुछ नाश नहीं होता, क्योंकि वह अजन्मा, निरन्तर, पुरातन और सबका आदि है। शरीर का नाश होने पर उसका नाश नहीं होता। तुम क्यों वृथा कातर हो रहे हो?

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे नारायणावतारो
नामैकपञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ ५१ ॥

श्रीभगवान् बोले, हे अर्जुन! जो इस आत्मा को मारनेवाला और मरता मानते हैं, वे आत्मा को नहीं जानते। यह आत्मा न मरता है और न मारता है, क्योंकि जो अक्षयरूप निराकार आकाश से भी सूक्ष्म है उस आत्मा परमेश्वर को कोई किस प्रकार मार सकता है? हे अर्जुन! तुम अहंकाररूप नहीं हो। इस अनात्म अभिमानरूपी मल को त्याग करो। तुम जन्म-मरण से रहित मुक्तरूप हो। जिस पुरुष को अनात्म में अहंभाव नहीं और जिसकी बुद्धि कर्तृत्व-भोक्तृत्व से लिप्त नहीं होती, वह पुरुष सब विश्व को भी यदि मारे तो भी उसको नहीं मारता और न उसे बन्धन होता है। हे अर्जुन! जिसको

जैसा दृढ़ निश्चय होता है, उसे वैसा ही अनुभव होता है। इससे यह मैं, मेरा इत्यादि जो मलिन संवित् निश्चय है, उसे त्यागकर स्वरूप में स्थित होओ। जो ऐसी भावना में स्थित नहीं होते और आपको नष्ट होता मानते हैं, वे सुख-दुःख भोगते और रागद्वेष में जलते हैं। हे अर्जुन ! वे अपने त्रिगुणरूप असंख्य कर्मों में बँधते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, इनसे पाँचों तत्त्व—आकाश, वायु, अग्नि जल और पृथ्वी उपजे हैं और उन भूतों के अंश श्रवण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका अपने विषयों में स्थित हैं। ये इन्द्रियाँ अपने विषयों को ग्रहण करती हैं। नेत्र रूप को, त्वचा स्पर्श को, जिह्वा रस को, नासिका गन्ध को और श्रवण शब्द को ग्रहण करते हैं। उसमें अहंकार विमूढ़ व्यक्ति अपने को कर्ता मानता है। सोचता है कि मैं देखता हूँ, सुनता हूँ, स्पर्श करता हूँ, स्वाद और गन्ध लेता हूँ।

हे अर्जुन ! ये सब कर्म कल्पना से रचे गये हैं। इन्द्रियों से कर्म होते हैं और अहंभाव से जीव वृथा क्लेश का भागी होता है। बहुतों ने मिलकर कर्म किया और उनका अभिमानी होकर एक ही दुःख पाता है। बड़ा आश्चर्य है कि देह और इन्द्रियों से कर्म होते हैं और जीव उनका अभिमानी होकर सुख, दुःख और राग, द्वेष से जलता है। इससे इनका संग और अभिमान त्यागकर अपने स्वरूप में स्थित हो। योगी केवल इन्द्रियों से कर्म करता है, उनमें अभिमान वृत्ति नहीं करता। हे अर्जुन ! इस जीव को अहंकार ही दुःखदायक है, क्योंकि उससे वह अनात्म में आत्म-अभिमान करता है। जो अभिमानरूपी विष से रहित होकर चेष्टा करता है, वह दुःख का कारण नहीं होता। वह सदा सुखरूप है। हे अर्जुन ! जैसे सुन्दर शरीर विष्ठा और मल से मलिन हुआ हो तो उसकी शोभा जाती रहती है, वैसे ही बुद्धिमान, पुरुष यदि शास्त्र का वेत्ता और गुणों से सम्पन्न भी हो, पर यदि अनात्म में आत्म-अभिमान करे तो उसकी शोभा जाती रहती है। जो निर्मल, निरहंकार, सुख-दुःख में सम और क्षमावान् है, वह शुभ कर्म करे अथवा अशुभ कर्म करे, उसको कोई कर्म स्पर्श नहीं करता। हे अर्जुन !

ऐसे निश्चयवान् होकर कर्म को करो। हे पाण्डुपुत्र ! युद्ध तुम्हारा परम-धर्म है, उसे करो। अपना अविकृत कर्म भी कल्याण करता है। पराया धर्म उत्तम भी दुःखदायक है और अपना धर्म अल्प भी अमृत की तरह सुखदायक है। हे अर्जुन ! चाहे जैसा कर्म करो: यदि तुम में अहं-भाव न होगा तो वह तुमको स्पर्श न करेगा। संग—अभिमान को त्याग और योग में स्थित होकर कर्म करो। जो निस्संग पुरुष है, उसको कोई कर्म करना पड़े, वह उसको करता हुआ बन्धन को नहीं होता। इससे ब्रह्मरूप होकर ब्रह्ममय कर्म करो, तब शीघ्र ही ब्रह्मरूप हो जाओगे। जो कुछ आचार कर्म हो, उसे ब्रह्म में अर्पण करो। संन्यास योग युक्ति से कर्मों को करते हुए भी मुक्ति पाओगे।

इतना सुन अर्जुन ने पूछा, हे भगवन् ! संगत्याग, ब्रह्मार्पण, ईश्वरार्पण, और योग किसको कहते हैं ? मोह की निवृत्ति के लिए इनको पृथक्-पृथक् कहिये। श्रीभगवान् बोले हे अर्जुन ! प्रथम तुम यह सुनो कि ब्रह्म किसको कहते हैं। जहाँ सब संकल्प शान्त हैं, केवल एक घनी वेदना है, दूसरी भावना का उत्थान नहीं, केवल अचैत्य चिन्मात्र-सत्ता है, उसको परब्रह्म कहते हैं। उसको जानकर उसके पाने का विचार और उद्यम करना ही ज्ञान है। उसमें स्थित होने का नाम योग है। ऐसा निश्चय करना कि यह सब ब्रह्म है; मैं ब्रह्म हूँ और सब जगत् मैं ही हूँ; और ब्रह्म से भिन्न कुछ भावना न करना, इसका नाम ब्रह्मार्पण है। नाना प्रकार का जो जगत् भासित होता है सो क्या है ? भीतर भी शून्य है और बाहर भी शून्य है। जिसकी शिला की उपमा है, ऐसा जो आकाशवत् सत्तारूप है, वह न शून्य है, न शिलासदृश है। उसके आश्रय से स्पन्दन कलना स्फूर्ति की भाँति अन्यवत् जगत्-रूप होकर भासित होती है, परन्तु वह आकाश की तरह शून्य है। जैसे समुद्र में तरङ्ग और बुलबुले अनेकरूप होकर स्थित होते हैं सो जल ही है, और कुछ नहीं। एक जल ही अनेकरूप देख पड़ता है, वैसे एक ही वस्तुसत्ता घट, पट आदिक आकार होकर भासती है। संवित्सार आत्मा में भेदकलना कुछ नहीं अज्ञान से अनेकरूप भेदकलना

विकल्पजाल भासित होकर अनेकभाव को प्राप्त होते हैं। आत्मा के अनेक नाम-रूप देखना और भिन्न-भिन्न देह, इन्द्रियाँ, प्राण, मन, बुद्धि आदिक, अनेक में अहंप्रतीति से एकत्रभाव देखना अज्ञान है। यह कलना ज्ञान से नष्ट हो जाती है।

हे अर्जुन ! संकल्पजाल को त्याग करने को असंग कहते हैं। सब कलना-जाल को भी ईश्वर से भिन्न न जानने की भावना से द्वैतभाव गलित हो जाने का नाम ईश्वरसमर्पण है। हे अर्जुन ! जब ऐसी अभेद भावना होती है, तब आत्मबोध होता है। बोध से सब शब्द-अर्थ एकरूप भासित होते हैं, सब शब्दों का-एक ही शब्द भासित होता है और एक ही अर्थ सब शब्दों में भासित होता है। हे अर्जुन ! सब जगत् मैं हूँ; दिशा और आकाश मैं हूँ। कर्म, काल, द्वैत, अद्वैत मैं ही हूँ। तुम मुझमें मन लगाओ, मेरी भक्ति करो, मेरा ही भजन करो और मुझही को नमस्कार करो, तब तुम मुझे ही प्राप्त होगे। हे अर्जुन ! मैं आत्मा हूँ और तुम मेरे ही परायण हो। अर्जुन बोले, हे देव ! आपके दो रूप हैं—एक पर और दूसरा अपर। उन दोनों रूपों में मैं किसका आश्रय करूँ, जिससे परमसिद्धि पाऊँ ?

श्रीभगवान् बोले, हे अनघ ! एक समानरूप है और दूसरा परमरूप है। यह शंख, चक्र, गदादि युक्त मेरा समानरूप है और परमरूप आदि अन्त से रहित एक अनामय है। उस ब्रह्मरूप को आत्मा और परमात्मा आदि कहते हैं। जब तक तुम अप्रबुद्ध हो और तुमको अनात्म देहादिक में आत्माभिमान है, तब तक मेरे चतुर्भुज आकार की पूजा और कर्मों को करो। जब प्रबुद्ध होगे, तब मेरे परमरूप को पाओगे, जो आदि-अन्त-मध्य से रहित है। उसको पाकर फिर जन्म-मरण में न पड़ोगे। जब तुम मोह आदि शत्रुओं के नाशक और ज्ञानवान् होगे, तब आत्मा से मेरा पूजन होगा। मैं सबका आत्मा हूँ। हे अर्जुन ! मैं मानता हूँ कि तुम अब प्रबुद्ध हुए हो, तुमने आत्मपद में विश्राम पाया है और संकल्पकलना से रहित एक आत्मसत्ता में स्थित होकर मुक्त हुए हो। ऐसे योग से तुम सब प्राणियों में स्थित आत्मा को देखोगे, और सब प्राणियों को

आत्मा में स्थित देखोगे। जब सर्वत्र तुमको समबुद्धि होगी, तब स्वरूप में तुम्हारी दृढ़ स्थिति होगी। हे अर्जुन! जो सब प्राणियों में स्थित आत्मा को देखता है, एकत्वभाव से भजन करता है और जिसमें आत्मा से भिन्न और भावना नहीं उठती, वह सब कर्म करके भी फिर जन्म-मरण नहीं पाता। हे अर्जुन! जिसमें सब शब्दों का अर्थ है और जो सब शब्दों में अनर्थरूप है, ऐसी आत्मसत्ता न सत् है और न असत्। सत्-असत् से रहित जो सत्ता है, वह आत्मसत्ता है। वह सब लोगों के चित्त में प्रकाशरूप से स्थित है।

हे भारत! जैसे दूध में घृत और जल में रस स्थित होता है; वैसे ही मैं सब लोगों के हृदय में तत्त्वरूप से स्थित हूँ। जैसे दूध में घृत स्थित है, वैसे ही सब पदार्थों के भीतर मैं आत्मा स्थित हूँ। जैसे रत्नों के भीतर-बाहर प्रकाश होता है, वैसे ही मैं सब पदार्थों के भीतर-बाहर स्थित हूँ। जैसे अनेक घटों के भीतर-बाहर एक ही आकाश स्थित है, वैसे ही मैं अनेक देहों के भीतर-बाहर अव्यक्तस्वरूप स्थित हूँ। हे अर्जुन! ब्रह्मा से लेकर तृण-पर्यन्त सब पदार्थों में मैं समान सत्ता से स्थित नित्य और अजन्मा हूँ, मुझमें जो चित्संवेदन हुआ है, वह ब्रह्मसत्ता की तरह हुआ है और फुरने से जगत्‌रूप हो भासित होता है, पर आत्मतत्त्व अपने आपमें स्थित है, द्वैत कुछ नहीं है। हे अर्जुन! आत्मा सबका साक्षीरूप है—उसको जगत् का सुख-दुःख स्पर्श नहीं करता। जैसे दर्पण प्रतिबिम्ब को ग्रहण करता है, परन्तु सबमें सम है और किसी से लिप्त नहीं होता, वैसे ही सब पदार्थों तथा अवस्थाओं का साक्षी आत्मा है, परन्तु किसी को स्पर्श नहीं करता, और शरीर के नाश में उसका नाश नहीं होता। जो ऐसा देखता है, वही यथार्थ देखता है।

हे अर्जुन! पृथ्वी में गन्ध, जल में रस, पवन में स्पर्श और स्पन्दन शक्ति मैं ही हूँ। अग्नि में प्रकाश और आकाश में शब्दशक्ति मैं ही हूँ। तुझसे क्या कहूँ कि यह मैं हूँ। सर्वात्मा सबका आत्मा मैं हूँ—मुझसे कुछ भिन्न नहीं। हे पाण्डव! यह जो सृष्टि प्रवृत्त है, उत्पन्न और प्रलय होती देख पड़ती है। सो मुझमें ऐसे है, जैसे समुद्र में तरङ्ग

उपजते और लीन होते हैं। जैसे पहाड़ पत्थररूप है; वृक्ष काष्ठरूप है और तरङ्ग जलरूप है, वैसे ही सब पदार्थों में मैं आत्मारूप हूँ। जो सब भूतों को आत्मा में देखता है, वह आत्मा को अकर्ता देखता है। जैसे समुद्र में नाना प्रकार के तरङ्ग और सुवर्ण में भूषण दीखते हैं, वैसे ही आत्मा में नाना आकार भासित होते हैं। हे अर्जुन! ये नाना प्रकार के पदार्थ ब्रह्मरूप हैं—ब्रह्म से भिन्न नहीं। तब और क्या कहिए; भाव-विकार क्या कहिये और जगत् द्वैत क्या कहिए? जो सब वही है तो वृथा मोहित क्यों होते हो? इस प्रकार सुनकर बुद्धिमान् इस लोक में समरस विचरते हैं। हे अर्जुन! उस पद को तुम क्यों नहीं प्राप्त होते? जो पुरुष निर्वाण और निर्मोह हुए हैं और जिनकी सब अभिलाषाएँ निवृत्त हुई हैं, वे अव्ययपद को प्राप्त हुए हैं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे अर्जुनोपदेशो
नाम द्विपञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ ५२ ॥

श्रीभगवान् बोले, हे महाबाहो! फिर मेरे श्रेष्ठ वचन सुनो; मैं तुम्हारी प्रसन्नता के निमित्त कहता हूँ, क्योंकि तुम्हारा हितकारी हूँ। ये जो शीतोष्ण विषय हैं सो इन्द्रियों से भोग्य हैं और आगमापायी अर्थात् आते हैं और फिर निवृत्त हो जाते हैं, इससे अनित्य हैं, इनको सहो, ये आत्मा को स्पर्श नहीं करते। तुम तो आदि-अन्त-मध्य में पूर्ण, निराकार, अखण्ड और व्यापक एक आत्मा हो। तुमको शीत, उष्ण, सुख, दुःख खण्डित नहीं कर सकते। ये कल्पना से रचे हुए हैं। जैसे सुवर्ण में भूषण का निवास है, वैसे ही आत्मा में इनका निवास असत् है। हे भारत! जिसको इन्द्रियों के भ्रमरूप भोग और स्पर्श चलायमान नहीं कर सकते और सुख-दुःख सम है, उसी पुरुष को मोक्ष की प्राप्ति होती है। हे अर्जुन! आत्मा नित्य, शुद्ध और सर्वरूप है और इन्द्रियों के स्पर्श असतरूप हैं। इसलिए असत् पदार्थ सत् आत्मा को मोहित नहीं कर सकते। ये अल्पमात्र तुच्छ हैं और बोधरूप आत्म-तत्त्व सर्वगत शुद्धरूप है; उसको इनका स्पर्श कैसे हो—सत् को असत् स्पर्श नहीं कर सकता। जैसे रस्सी में सर्प का जो अभास होता है, वह

रस्सी को स्पर्श नहीं कर सकता. जैसे चित्र की अग्नि कागज को जला नहीं सकती और जैसे स्वप्न के क्षोभ जाग्रत् पुरुष को स्पर्श नहीं कर सकते. वैसे ही इन्द्रियाँ और उनके विषय आत्मा को स्पर्श नहीं कर सकते।

हे अर्जुन ! जो सत् है वह असत् नहीं होता और जो असत् है वह सत् नहीं होता। सुख-दुःखादिक असत्रूप हैं और परमात्मा सत्रूप है। जगत् की सत वस्तुएँ घटादिक और आकाश की असत् फलादिक त्यागने से जो निष्किञ्चन महासत् पद शेष रहे. उसमें स्थित हो। हे अर्जुन ! ज्ञानवान् पुरुष इष्ट अनिष्ट से चलायमान नहीं होता। वह इष्ट (सुख) से हर्षित और अनिष्ट (दुःख) से शोकातुर नहीं होता। चैतन्य पाषाण सदृश शरीर में स्थित होता है। हे साधो ! यह चित्त भी जड़ है और देह इन्द्रियादिक भी जड़ हैं। आत्मा चेतन है। अपने को इनके साथ मिला हुआ देह क्यों देखता ? चित्त और देह भी आपस में भिन्न-भिन्न हैं। देह के नष्ट होने पर चित्त नहीं नष्ट होता और चित्त के नष्ट होने पर देह नहीं नष्ट होता। इनके नष्ट होने पर जो अपने को नष्ट हुआ मानता है और इनके सुखदुःख से सुखी-दुःखी होता है. वह महामूर्ख है। हे अर्जुन ! स्वरूप के प्रमाद से जो देहादिक में अहंप्रतीति करता है और अपने को भोक्ता मानता है. वह निबुद्धि है। जब आत्मा का बोध होता है, तब अपने को अकर्ता. अभोक्ता और अद्वैत देखता है। जैसे रस्सी के अज्ञान से सर्प देख पड़ता है और रस्सी के बोध से सर्प का अभाव होता है. वैसे ही आत्मा के अज्ञान से देह और इन्द्रियों के सुखदुःख प्रतीत होते हैं और आत्मज्ञान से सुखदुःख का अभाव हो जाता है।

हे अर्जुन ! यह विश्व एक अज ब्रह्मस्वरूप है। न कोई जन्मता है और न मरता है—यह सत् उपदेश है। हे अर्जुन ! ब्रह्मरूपी समुद्र में तुम एक तरङ्ग उठे हो और कुछ काल रहकर फिर उसी में लीन हो जाओगे—इसमें तुम्हारा स्वरूप निरामय ब्रह्म है। सब जगत् ब्रह्म का स्पन्दन है और समय पाकर देख पड़ता है। इसमें मान. मद. शोक और सुख. दुःख सब असत्रूप हैं। तुम शान्ति होकर रहो। हे अर्जुन ! प्रथम तो तुम

ब्रह्ममय युद्ध करो और जो कुछ अक्षौहिणी सेना है, उसका अनुभव मे नाश करो। यह द्वैत कुछ नहीं। सर्वदा एक ही परब्रह्म स्थित है। ब्रह्ममय युद्ध करो और सुख, दुःख, हानि, लाभ और जय, पराजय को उस युद्ध में समान मानो। ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त जो कुछ जगत् दीखता है, सो सब ब्रह्म ही है, ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं, ऐसा जानकर लाभ-हानि में सम होकर स्थित हो और कुछ चिन्ता न करो। हे अर्जुन! जड़-शरीर से कर्म स्वाभाविक होते हैं। जैसे वायु का स्फुरण स्वाभाविक होता है, वैसे ही शरीर से कर्म स्वाभाविक होते हैं।

हे अर्जुन! भोजन, यजन, दान इत्यादिक जो कुछ कार्य करो, सब आत्मा ही को अर्पण करो। सदा आत्मसत्ता में स्थित रहो और सबको आत्मरूप देखो। हे अर्जुन! जो किसी के हृदय में दृढ़ निश्चय होता है, वही रूप उसको भासित होता है। जब तुम इस प्रकार अभ्यास करोगे, तब ब्रह्मरूप हो जाओगे—इसमें संशय नहीं। हे अर्जुन! जो आत्मा को कर्मों का अकर्ता देखता है, वह मनुष्यों में बुद्धिमान् है और सम्पूर्ण कर्मों के करते भी कुछ नहीं करता। हे अर्जुन! कर्मों के फल की इच्छा भी न हो और कर्मों से विरमता भी न हो-योग में स्थित होकर कर्म को करो! हे धनंजय! कर्तृत्व के अभिमान और फल की वाञ्छा को त्यागकर कर्म करो। जो कर्मों के फल और संग को त्यागकर नित्य तृप्त हुआ है, वह करता हुआ भी कुछ नहीं करता। हे अर्जुन! जिसने सब आरम्भों में कामना और संकल्प का त्याग किया है और ज्ञान-अग्नि से कर्म जलाये हैं, उसी को बुद्धिमान् लोग पण्डित कहते हैं। जो आत्मा में समवस्थित है और सब अर्थों में निस्पृह और निर्द्वन्द्वसत्ता में स्थित है, यथा प्राप्त में वरतता है, वह पृथ्वी का भूषण है। वह समुद्र की तरह अचल और अपने में तृप्त है। जैसे समुद्र में अनिच्छित जल प्रवेश करता है, वैसे ही ज्ञानवान् में सुख प्रवेश करते हैं। वह शान्तरूप सब कामनाओं से रहित है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे अर्जुनोपदेशे सर्वब्रह्मप्रतिपादनं नाम त्रिपञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ ५३ ॥

श्रीभगवान् बोले, हे अर्जुन ! तुम देश, काल और वस्तु के परिच्छेद से रहित, अविनाशी और अजर आत्मा हो। परिणाम या विकार से रहित को अजर कहते हैं। हे अर्जुन ! तुम शोक मत करो। यह जगत् तुमको अज्ञान से भासित होता है। अज्ञान अपने प्रमाद को कहते हैं और प्रमाद अनात्मा में आत्माभिमान करने का नाम है। हे अर्जुन ! यह जो संसाररूपी तुम्हारी देह है, इसमें अभिमान मत करो—यह मिथ्या है—इसमें दुःख होता है। तुम असंग और अविनाशी हो: तुम्हारा नाश कदापि नहीं होता। हे अर्जुन ! जो विनाशरूप है, उसका अस्तित्व कभी न होगा और जो सत्य है उसका अभाव न होगा। तत्त्ववेत्ताओं ने इन दोनों का निर्णय किया है। हे अर्जुन ! जिससे यह सब प्रकाशित होता है, उसको तुम अविनाशी जानो। उसका कोई विनाश नहीं कर सकता। हे अर्जुन ! तुम ऐसे हो और यह आत्मा सबका अपना है, तब उसका विनाश कैसे हो ? अज्ञानी मनुष्य उसका विनाश होता मानते हैं।

अर्जुन ने पूछा, हे भगवन् ! आप कहते हैं कि आत्मा अविनाशी है और सबका अपना है तो इन प्राणियों का नाश क्यों होता है ? श्रीभगवान् बोले, हे अर्जुन ! तुम सत्य कहते हो। किसी का नाश नहीं होता, परन्तु अज्ञान से लोग अपना नाश होता मानते हैं। हे अर्जुन ! तुम आत्मवेत्ता बनो। वह आत्मा एक अद्वैत है, जिसको एक भी नहीं कह सकते। तब द्वैत कहाँ से हो ? अर्जुन बोले, हे भगवन् ! आप कहते हैं कि आत्मा एक है, तो मृत्यु भी उससे भिन्न दूसरा न हुआ और यह भी सत्य है कि लोग मर कर नरक या स्वर्ग भोगते हैं। यदि मृत्यु नहीं तो लोग मरते क्यों हैं और पाप-पुण्य का फल कैसे भोगते हैं ? श्रीभगवान् बोले, हे अर्जुन ! न कोई मरता है और न जन्मता है—यह स्वप्न की तरह मिथ्या कल्पना है। जैसे स्वप्न में निद्रादोष से जन्मना और मरना जान पड़ता है, वैसे ही संसार में यह जन्म-मरण अज्ञान से दीखता है। अज्ञान स्फुरण का नाम है, उसी से नरक और स्वर्ग कल्पित हुआ है।

हे अर्जुन ! जैसे यह जीव भोगता है, सो तुम सुनो। इस जीव ने अपने स्वरूप के प्रमाद से संकल्पमय शरीर रचे हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश में मन, बुद्धि और अहंकार से जीव प्रकट होता है। उस अंतःकरण से मिलकर जैसी वासना करता है, वैसा ही आगे भोगता है। वह वासना तीन प्रकार की है—एक सात्त्विकी, दूसरी राजसी और तीसरी तामसी। जैसी वासना होती है, वैसा ही स्वर्ग और नरक बन जाता है। सात्त्विकी वासना से स्वर्ग बन जाता है और राजसी-तामसी से नरकादिक बन जाते हैं। स्वर्ग-नरक केवल वासनामात्र हैं; वास्तव में न कोई स्वर्ग है, न नरक है; न कोई मरता है, न जन्मता है। केवल एक आत्मा ही ज्यों का त्यों स्थित है, परन्तु यह जगत् आभास भ्रम से होता है। इस जीव ने अज्ञान से चिरकाल तक वासना का अभ्यास किया है, उसी से भ्रम देखता है। अर्जुन बोले, हे जगत्पते ! यह जीव जो नरक, स्वर्गादिक योनि जगत में देखता है, उसका कारण क्या है ? श्रीभगवान् बोले, हे अर्जुन ! अज्ञान से जो अनात्मा में आत्माभिमान हुआ है, उससे जगत् को सत् जानकर जीव वासना करने लगा है और जैसे-जैसे जगत् को सत् जानकर वासना करता है, वैसे ही वैसे जगत्-भ्रम देखता है। जब आत्मविचार उपजता है, तब जगत् को स्वप्न की तरह देखता है और वासना का भी क्षय हो जाता है। जब वासना का क्षय होता है, तब कल्याण होता है।

फिर अर्जुन ने पूछा, हे भगवन् ! चिर अभ्यास से जो संसारभ्रम दृढ़ हो रहा है, वह किस प्रकार उपजा है और किस प्रकार लीन होगा ? श्रीभगवान् बोले, हे अर्जुन ! मूर्खता और अज्ञान से जो अनात्म देहादिक में आत्मभावना होती है, उससे जगत् को सत् जानकर जीव वासना करता है और उस वासना के अनुसार जगत्-भ्रम देखता है। पर जब स्वरूप का अभ्यास करता है, तब वासना नष्ट हो जाती है। इससे हे अर्जुन ! तुम स्वरूप का अभ्यास करो। अहं, मम आदिक वासना को त्यागकर केवल आत्मा की भावना करो। यह

देह वासनारूप है। जब वासना निवृत्त होगी, तब देह भी लीन हो जायगी और जब देह लीन हुई तब देश, काल, क्रिया, जन्म, मरण भी न रहेंगे। ये जीव के अपने ही संकल्प से उठे हैं और भ्रमरूप हैं। उनकी वासना से घिरा हुआ जीव भटकता है। जब आत्मबोध होता है, तब जीव वासना से मुक्त होता है और निरालम्ब असंकल्प अविनाशी आत्मतत्त्व पाता है। उसी को मोक्ष कहते हैं।

हे अर्जुन! जब जीव को तत्त्वबोध होता है तब वासनारूपी जाल से वह मुक्त हो जाता है और जो वासना से मुक्त हुआ सो मुक्त हुआ। कोई पुरुष सर्वधर्म-परायण सर्वज्ञ और शास्त्रों का ज्ञाता भी हो, पर यदि वासना से मुक्त नहीं हुआ, तो वह सब ओर से बँधा हुआ है। जैसे दृष्टि के दोष से निर्मल आकाश में मोर की पूँछ की तरह तारे भासित होते हैं, वैसे ही मूर्ख को शुद्ध आत्मा में वासनारूपी मल यह जगत् भासित होता है। जैसे पिंजड़े में पक्षी बन्द होता है, वैसे ही वह बन्धन में पड़ता है। जिसके हृदय में वासना है, वह बंधन में है और जिसके हृदय में वासना नहीं है, उसको मुक्त जानो। हे अर्जुन! जिसके हृदय में जगत् की वासना है, वह यदि बड़ी प्रभुता से संयुक्त देख पड़े तो भी दरिद्र और दुःख का भागी है। जिसकी वासना नष्ट हुई है, वह यदि प्रभुता से रहित देख पड़े तो भी बड़ा प्रभुतासम्पन्न ऐश्वर्यशाली है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे जीवनिर्णयो
नाम चतुष्पञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ ५४ ॥

श्रीभगवान् बोले, हे अर्जुन! इस प्रकार तुम निर्वासनिक जीवन्मुक्त होकर विचरो, तब तुम्हारा अन्तःकरण शीतल हो जायगा। तुम जरामरण से मुक्त और निःसंग आकाश समान होगे और इष्ट-अनिष्ट को त्याग वीतराग होकर स्थित होगे। हे अर्जुन! प्रवाह से जो कार्य आकर प्राप्त हो, उसको करो। युद्ध में कायरपन न करो। आत्मा अविनाशी और देह नाशवान् है। देह का नाश होने से आत्मा का नाश नहीं होता। हे अर्जुन! जो जीवन्मुक्त पुरुष हैं, वे रागद्वेष से रहित होकर

प्रवाह से प्राप्त कार्य को करते हैं। तुम भी जीवन्मुक्त स्वभाव होकर विचरो और 'यह मैं करूँ', 'यह न करूँ', इस ग्रहण-त्याग की दुविधा को त्यागो। इसी से ज्ञानवान् बन्धन को नहीं प्राप्त होते। जो मूर्ख हैं, वे इस बन्धन में बँधते हैं और जीवन्मुक्त पुरुष सुषुप्तवत् स्थित होकर प्रवाह प्राप्त और प्रबुद्ध की तरह वासना से रहित होकर कार्य करते हैं। जैसे कच्छप अपने अङ्ग समेट लेता है, वैसे ही ज्ञानवान् वासना को समेट लेता है और अपने को चिन्मात्ररूप जानता है। मुझमें जगत् माला के दानों की तरह पिरोया हुआ है और सब जगत् मेरा अङ्ग है। जैसे अपने हाथ पसारे और समेटे और जैसे समुद्र से तरङ्ग उठते और लीन होते हैं, वैसे ही विश्व आत्मा से उपजते और लीन होते हैं—उससे भिन्न कुछ नहीं।

हे अर्जुन! जैसे चँदवे के ऊपर नाना प्रकार के चित्र लिखे होते हैं, परन्तु वे रङ्ग और वस्त्र से भिन्न नहीं होते, वैसे ही आत्मा में मनरूपी चितेरे ने जगत् रचा है और अनउपजा होकर भी उपजा-सा लगता है। जैसे खंभे में चितेरा कल्पना करता है कि इतनी पुतलियाँ निकलेंगी, तब आकाशरूपी पुतलियाँ उसके मन में उदय होती हैं, वैसे ही ये तीनों जगत् कालसंयुक्त चित्त में प्रकट होते हैं। चितेरा भी मूर्तियाँ तब लिखता है, जब उसके चित्त के भीतर कल्पना होती है, पर यह आश्चर्य है कि मन आकाश में चित्र बनाता है। हे अर्जुन! यह चित्र स्पष्ट दिखता है, तो भी आकाशरूप है। जैसे स्वप्नसृष्टि आकाशरूप होती है, वैसे ही यह भी है। आकाश और भीत में भेद नहीं, परन्तु आश्चर्य है कि भेद भासित होता है। जैसे मनोराज्य स्वप्नपुर में मन के स्फुरण से जगत् भासित होता है और मन के सुप्त होने से लय हो जाता है सो वह मनोमात्र है, वैसे ही यह मनोमात्र है और आकाश से भी अधिक शून्य है। जैसे स्वप्नपुर और मनोराज्य में एक क्षण में बड़े काल का अनुभव होता है और पूर्वरूप के विस्मरण से वह सत् सा जान पड़ता है, वैसे ही यह जगत् सत् प्रतीत होता है, जब तक प्रमाद होता है, तब तक प्रतीत होता है, पर जब इस क्रम से जीव आत्मरूप को देखता

है, तब जगत्भ्रम निवृत्त हो जाता है। यद्यपि प्रकट देख पड़ता है परन्तु लीन हो जाता है और शरत्काल के आकाश की तरह आत्मा निर्मल भासित होता है। जैसे चितेरे के मन में जो चित्र जगते हैं वे आकाश-रूप हैं, वैसे ही यह जगत् आकाशरूप है।

हे अर्जुन! भाव-अभाववृत्ति को त्यागकर स्वरूप में स्थित होओ, तब आकाशसदृश निर्मल हो जाओगे। जैसे मेघ की प्रवृत्ति और निवृत्ति में आकाश निर्मल ही रहता है, वैसे ही तुम भी पदार्थ के भाव-अभाव में निर्मल हो। जो कुछ पदार्थ दीखते हैं, वे सब आकाश-रूप हैं। जैसे चितेरे के मन में पुतलियाँ भासित होती हैं, वैसे ही यह जगत् आकाशरूप है। जैसे एक क्षण में मन के स्फुरण से नाना प्रकार के पदार्थ भासित होते हैं और सुप्त होने से लीन हो जाते हैं, वैसे ही प्रमाद से यह जगत् भासित होता है और आत्मा के जानने से लीन हो जाता है। आत्मा में जगत् निर्वाणरूप है, पर आत्मा में एक निमेष के स्फुरण द्वारा प्रमाद से वज्रसार की तरह दृढ़ स्पष्ट भासित होता है और चित्त के चेतने से सत् जान पड़ता है। यह सब जगत् आकाशरूप है—द्वैत कुछ हुआ ही नहीं, पर बड़ा आश्चर्य है कि आकाश पर लिखे हुए चित्र नानारूप रमणीय होकर भासित होते और मन को मोहते हैं। हे अर्जुन! यही आश्चर्य है कि कुछ नहीं है, पर नाना प्रकार के रङ्ग भासित होते हैं। आकाशरूपी नील सरोवर में चन्द्रमा और तारे आदि फूल खिले हैं और उनमें मेघरूपी पत्ते लगे हैं। हे अर्जुन! और आश्चर्य देखो कि चित्र भी तब होता है, जब उसका आधार भीत अथवा वस्त्र होता है। पर यहाँ चित्र प्रथम उत्पन्न होते हैं, आधार अर्थात् दीवार पीछे बनती है। प्रथम ये मूर्तियाँ और चित्र बने हैं और पीछे भीत हुई है। यही आश्चर्य है। हे अर्जुन! यह माया की प्रधानता है कि वास्तव आकाशरूप चितेरे ने आकाश में आकाशरूप पुतलियाँ रची हैं। आकाश में आकाशरूप पुतलियाँ उपजी हैं और आकाश में लीन होती हैं; आकाश ही को भोजन करती हैं। आकाश ही को आकाश देखता है, आकाश ही यह सृष्टि है और

आकाश का ही रूप आकाशरूप आत्मा में आकाशरूप मे स्थित है।

हे अर्जुन ! वास्तव में आत्मा ऐसा है। ऐसे अद्वैतरूप आत्मा में जो उत्थान हुआ है, उस उत्थान से उसको स्वरूप का प्रमाद हुआ है, जिससे दृश्य भ्रम देख पड़ता है और अनेक वासनाएँ उत्पन्न होती हैं। वासनारूपी रस्सी से बँधा हुआ जीव भटकता है और वासना से घिरा हुआ अहं-त्वं आदिक शब्दों को जानने लगता है और नाना प्रकार के भ्रम देखता है। तो भी उसका स्वरूप ज्यों का त्यों है। जैसे दर्पण में प्रतिविम्ब पड़ता है और दर्पण ज्यों का त्यों रहता है; वैसे ही आत्मा में जगत् प्रतिविम्बित होता है और आत्मा छेद-भेद से रहित है। ब्रह्म ही ब्रह्म में स्थित है। जब सब वही है, तब छेद-भेद किसका हो ? जैसे जल में तरङ्ग और बुलबुले जलरूप हैं, वैसे ही यह सब ब्रह्म ही से पूर्ण है। उसमें द्वैत कुछ नहीं। जैसे आकाश में आकाश स्थित है, वैसे ही आत्मा में आत्मा स्थित है। उसमें वास-वासक कल्पना कोई नहीं, परन्तु स्वरूप के प्रमाद से वास-वासक भेद होता है। जब स्वरूप का ज्ञान होता है, तब वासना नष्ट हो जाती है।

हे अर्जुन ! जो वासना से मुक्त है, वही मुक्त है और वासना से बँधा हुआ बन्धन में पड़ा है। यदि सब शास्त्रों का वेत्ता भी हो और सर्वधर्मों से पूर्ण हो तो भी यदि वासना से मुक्त नहीं हुआ तो बन्धन में बँधा ही है। जैसे पिंजड़े में पक्षी बंद होता है, वैसे ही वह वासना से बँधा हुआ है। हे अर्जुन ? जिसके हृदय में वासना का बीज है, वह बीज यद्यपि बाह्य नजर नहीं आता तो भी बहुत फैल जायगा। जैसे वट का बीज फैल जाता है, वैसे ही वह वासना फैल जायगी। जिस पुरुष ने आत्मचिन्तन का अभ्यास किया है और उससे ज्ञानरूपी अग्नि उपजाकर वासना के बीज को जलाया है, उसको फिर संसार-भ्रम नहीं होता। वह न वस्तु बुद्धि से पदार्थों को ग्रहण करता है, न सुख-दुःख आदिक में डूबता है—सदा निर्लेप रहता है। जैसे तोंबी जल के ऊपर ही रहती है, वैसे ही वह सुख-दुःख के ऊपर रहता है। हे अर्जुन ! तुम शान्त आत्मा हो। तुम्हारा भ्रम अब दूर हुआ और तुम आत्मपद

को प्राप्त हुए हो। तुम्हारे मन और मोह का निर्वाण हो गया है और तुम सम्यक्ज्ञानी हुए हो। व्यवहार करना और चुप रहना दोनों तुमको तुल्य है; क्योंकि तुम शान्तरूप और निःशङ्कपद को प्राप्त हुए हो। यह मैं जानता हूँ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे श्रीकृष्णसंवादे अर्जुनविश्रान्तिवर्णनं नाम पञ्चपञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ ५५ ॥

अर्जुन बोले, हे अच्युत! मेरा मोह अब नष्ट हुआ और मुझे आत्म-स्मृति प्राप्त हुई। आपके प्रसाद से मैं अब निसंदेह हो गया हूँ; अब जो कुछ आप कहिये, वह मैं करूँ। श्रीभगवान् बोले, हे अर्जुन! मन की पाँच वृत्तियाँ हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, अभाव और स्मृति। जब ये पाँचों हृदय से निवृत्त हों, तब चित्त शान्त हो। उसके पीछे चेत से रहित चैतन्य जो शेष रहता है, उसको प्रत्यक् चैतन्य कहते हैं। वह वस्तुरूप, सब उपाधियों से रहित पूर्ण और सर्वरूप है। जो उस पद को प्राप्त हुआ है, उसको आधि-व्याधि आदिक दुःख नहीं हो सकते। जैसे जाल से निकलकर पक्षी आकाश को उड़ता है, वैसे ही वह देहाभिमान से मुक्त होकर आत्मपद को प्राप्त होता है। हे अर्जुन! प्रत्यक् चैतन्य सत्ता परम प्रकाशरूप, शुद्ध और संकल्प-विकल्प से रहित है और इन्द्रियों के विषय में नहीं आती, इन्द्रियों से परे है। जो पुरुष सबसे अतीत पद को प्राप्त हुआ है, उसको वासना नहीं स्पर्श कर सकती। उसके प्राप्त होने पर ये घट-पट आदिक पदार्थ सब शून्य हो जाते हैं और वहाँ तुच्छ वासना का कुछ बल नहीं चलता। जैसे अग्नि-समूह के निकट बरफ गल जाती है और उसकी शीतलता नहीं रहती, वैसे ही शुद्ध पद का साक्षात्कार होने पर चित्त वृत्ति नष्ट हो जाती है और वासना का भी अभाव हो जाता है।

हे अर्जुन! वासना तब तक फुरती है, जब तक मनुष्य संसार को सत्य जानता है। जब आत्मपद की प्राप्ति होती है, तब संसार और वासना का अभाव हो जाता है। इस कारण विरक्त पुरुष को सत्य जान लेने पर कुछ भी वासना नहीं रहती। नाना प्रकार के आकार और

विकार से संयुक्त अविद्या तब तक फुरती है, जब तक शुद्ध आत्मा का अपने आप से ज्ञान नहीं होता। शुद्ध आत्मा को प्राप्त होने पर जगत्-भ्रम नष्ट हो जाता है; मनुष्य स्वच्छपद आत्मतत्त्व में स्थित होता है, आकाश की तरह निर्मलभाव को प्राप्त होता है और अपने आपको सबमें पूर्ण देखता है। वह आत्मसत्ता सब आकाररूप है और सब आकार-रूपों से रहित भी है। हे अर्जुन! जो शब्द से अतीत परमवस्तु है, उसकी किससे उपमा दी जाय? जो वासनारूपी विसूचिका को त्याग-कर अपने आत्मस्वभाव में स्थित हुआ पृथ्वी में विचरता है, वह त्रिलोकी का नाथ है।

इतना कहकर वशिष्ठजी बोले, हे राम! जब इस प्रकार त्रिलोकी के नाथ कहेंगे, तब अर्जुन एक क्षण मौन हो जावेंगे और उसके उपरान्त कहेंगे कि हे भगवन्! मेरे शोक नष्ट हो गये। जैसे सूर्य उदय होने पर कमल खिल जाते हैं, वैसे ही आपके वचनों से मेरा बोध खिल गया है—अब जो कुछ आपकी आज्ञा हो, वह मैं करूँ। इस प्रकार कहकर अर्जुन गाण्डीव धनुष ग्रहण करेंगे और भगवान् को सारथी करके निःसन्देह और निश्शङ्क होकर युद्ध करेंगे, जिसमें हाथी, घोड़े, मनुष्य मारकर लोहू के प्रवाह बहावेंगे तो भी आत्मतत्त्व में स्थित रहेंगे और स्वरूप से चलायमान न होंगे। जैसे पवन मेघ का अभाव कर देता है, वैसे ही योद्धाओं का नाश करेंगे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे श्रीकृष्ण अर्जुनसंवादे भविष्यद्
गीतानामोपाख्यानसमाप्तिर्नामषट्पञ्चाशस्सर्गः ॥ ५६ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे राम! ऐसी दृष्टि का आश्रय करो, जो दुःख का नाश करती है। निःसंग संन्यासी होकर अपने सब कर्म और चेष्टाओं को ब्रह्म-अर्पण करो। जिसमें यह सब है और जिससे यह सब है, ऐसी सत्ता को तुम परमात्मा जानो! अनुभवरूप आत्मा है। उसकी भावना से मनुष्य उसी को प्राप्त होता है—इसमें संशय नहीं। जो सत्तासंवेदन से रहित चैतन्य है, उसी को तुम परमपद जानो। वह सबका परम द्रष्टारूप और सबका प्रकाशक है, महा उत्तम परमगुरु

का गुरु है। जिसको शून्यवादी शून्य, विज्ञानवादी विज्ञान और ब्रह्मवादी ब्रह्म कहते हैं, वह परमसार शान्तरूप शिव अपने आपमें स्थित है। वही आत्मा इस जगतरूपी मन्दिर को प्रकाश करनेवाला दीपक, जगतरूपी वृक्ष का रस, जगतरूपी पशु का पालनेवाला गोपाल और जीवरूपी मोतियों को एकत्र करनेवाला तागा है। हृदय और भूतरूपी मिर्चों में तीक्ष्णता है। निदान सब पदार्थों में पदार्थरूप सत्ता वही है। सत्य में सत्यता और असत्य में असत्यता वही है। जगतरूपी गृह में सब पदार्थों को प्रकट करनेवाला दीपक वही है और उसी से सब सिद्ध होते हैं। चन्द्रमा, सूर्य, तारे आदि जो प्रकाशरूप दीखते हैं, उनका भी वह प्रकाशक है। यह जड़ प्रकाश है और वह चैतन्य प्रकाश है, उसमें ये सिद्ध होते हैं और उसी से सब प्रकाश प्रकट हुए हैं। वह आत्मसंवित् अपने ही विचार से पाया जाता है।

हे राम! जो कुछ भाव-अभाव पदार्थ देख पड़ते हैं, वे असत् हैं। वास्तव में कुछ हुए नहीं, प्रमाददोष से भासित होते हैं और जब ज्ञान-विवेक उपजता है, तब नष्ट हो जाते हैं। हे राम! जिसके हृदय में अहंभाव है। उसे यह जो जगत्-जाल मिथ्याभ्रम से भासित होता है, उसको उपजा क्या कहिये और किसकी आस्था कीजिये। यह जगत् कुछ वस्तु नहीं। आदि, अन्त, मध्य की कल्पना से रहित जो देव है वह ब्रह्मसत्ता समान अपने आपमें स्थित है। और द्वैत कुछ नहीं बना। जब यह तुमको दृढ़ निश्चय होगा तो तुम व्यवहार करते भी हृदय से निःसंग और शान्तरूप होगे। हे राम! जिस पुरुष की उस समान-सत्ता में स्थिति हुई है, वह इष्ट-अनिष्ट की प्राप्ति में रागद्वेष से रहित हृदय से सदा शान्तरूप रहता है। वह न उदय होता है, न अस्त होता है; सदा समभाव में स्थित रहता है। वह स्वस्थरूप अद्वैत-तत्त्व में स्थित होता है और जगत् की ओर से सुषुप्त सा हो जाता है, व्यवहार भी करता है, परन्तु दर्पण के सदृश उसे क्षोभ नहीं होता। जैसे मणि सब प्रतिबिम्ब को ग्रहण करती है, परन्तु उसका संग नहीं करती, वैसे ही ज्ञानवान् पुरुष कभी कल्पना कलङ्क को नहीं प्राप्त होता;

उसका चित्त व्यवहार में सदा निर्मल रहता है। ज्ञानवान् को जगत् आत्मा का चमत्कार भासित होता है। वह न एक है, न अनेक। आत्म-तत्त्व सदा अपने आपमें स्थित है। चित्त में जो यह चेतनभाव भासित होता है, उस चित्त के चेतने का नाम संसार है और फुरने से रहित शान्तचित्त का नाम परमपद है।

हे राम ! महा चैतन्य में जो निज का अभाव है कि मैं आत्मा को नहीं जानता, इसी का नाम चित्तस्पन्दन है और यही संसार का कारण है। जब इस भावना का क्षय हो, तब चित्त शान्त हो। हे राम ! जहाँ निजभाव होता है, वहाँ पदार्थों का अभाव होता है। वह निज सत्ता सब ठौर अपने अर्थ को सिद्ध करती है, परन्तु आत्मा में नहीं प्रवृत्त हो सकती। जब जीव कहता है कि मैं आत्मा को नहीं जानता, तब भी आत्मा का अभाव नहीं होता; क्योंकि अभाव को जाननेवाला भी आत्मा ही है। जो आत्मतत्त्व न हो तो अभाव कौन कहे। वह आत्मा परमशून्य है, परन्तु अजड़रूप परम चैतन्य है। हे राम ! तुम निज का अर्थ आत्मा में करो और आत्मा का अभाव न मानो। अनात्म में जो निज का भावत्व है, उसका अभाव करो अर्थात् अनात्म को अभावरूप मानो। जब इस प्रकार दृढ़भावना करोगे, तब संसार का भ्रम निवृत्त हो जायगा और केवल आत्मभाव शेष रहेगा।

हे राम ! चित्त के फुरने का नाम संसार है। चित्त के फुरने से ही संसारचक्र चलता है। जैसे सुवर्ण से भूषण प्रकट होते हैं, वैसे ही चित्त से त्रिपुटी होती। पर चित्तस्पन्दन भी कुछ भिन्न वस्तु नहीं, आत्मा का आभासरूप है। अज्ञान से चित्त स्पन्दन होता है और ज्ञान से लीन हो जाता है। जैसे सुवर्ण के भूषण को लगाने से भूषण-बुद्धि नहीं रहती, वैसे ही चित्त अचल होने पर चित्तसंज्ञा जाती रहती है। और जैसे भूषण के अभाव पर सुवर्ण ही रहता है वैसे ही बोध से चित्त के लीन होने पर शुद्ध चैतन्यसत्ता शेष रहती है। फिर भोगों की तृष्णा लीन हो जाती है और जब भोगभावना निवृत्त होती है, तब ज्ञान का परम लक्षण सिद्ध होता है। हे राम ! जो ज्ञानवान् पुरुष है और जिसने

सतरूप को जाना है, उसको भोग की इच्छा नहीं रहती। जैसे जो पुरुष अमृतपान से अघा जाता है, उसको खली आदि तुच्छ भोजन की इच्छा नहीं रहती, वैसे ही आत्मज्ञान से जो संतुष्ट हुआ है, उसको विषय की तृष्णा नहीं रहती। यह निश्चय करके जानो कि जब चित्त फुरता है, तब जगत्-भ्रम भासित होता है और सत्य जानकर भोग की इच्छा होती है; पर जब बोध होता है, तब जगत्भ्रम लीन हो जाता है। तब फिर तृष्णा किसकी करे। यदि इन्द्रियों के विषय प्राप्त हों और हठकर उनको न भोगे, वह मूर्ख है। वह मानों अग्र से आकाश को छेदता है।

हे राम! गुरु और शास्त्रों की युक्ति से मन वश होता है; युक्ति बिना उनकी शुद्धि नहीं होती। यदि कोई अपने अङ्ग ही को काटे और उससे चित्त को स्थिर किया चाहे तो भी चित्त स्थिर नहीं होता और न संसारभ्रम ही मिटता है जब तक चित्त में स्थिति है तबतक जगत्भ्रम दीखता है और जब गुरु और शास्त्रों की युक्ति ग्रहण करके चित्त का अभाव होता है, तब चित्त नष्ट और अचल हो जाता है। जैसे बालक को अन्धकार में पिशाच देख पड़ता है और दीपक जलाकर देखे से अन्धकार निवृत्त होकर पिशाचभ्रम नष्ट हो जाता है, तब बालक निर्भय होता है, वैसे ही आत्मज्ञानरूप युक्ति से अज्ञान निवृत्त होता है। असम्यक्बुद्धि से जगत्भ्रम हुआ है और सम्यक्बोध से निवृत्त हो जाता है; फिर जाना नहीं जाता कि अज्ञान का जगत्भ्रम कहाँ गया? जैसे दीपक का निर्वाण होने पर नहीं जाना जाता कि प्रकाश कहाँ गया, वैसे ही अज्ञान नष्ट होने पर नहीं जाना जाता कि जगत् कहाँ गया। चित्त के फुरने से बन्धन होता है और न फुरने से मोक्ष होता है परन्तु आत्मा से भिन्न कुछ नहीं। आत्मसत्ता ज्यों की त्यों है। उसमें न बन्धन है; न मोक्ष है।

हे राम! जब मोक्ष की इच्छा होती है, तब भी उसकी पूर्णता का क्षय होता है और निःसंवेदन होने पर कल्याण होता है। जो अनाभास अजड़रूप परमपद है, वह चैतन्योन्मुखत्व से रहित है। हे राम! बन्धन, मोक्ष आदिक भी कलना में होते हैं। जब कलना से रहित बोध होता है, तब बन्धन मोक्ष दोनों नहीं रहते। जब तक विचार

से नहीं देखा, तब तक बन्धन और मोक्ष भासित होता है। विचार करने से दोनों का अभाव हो जाता है। जब 'अहं', 'इदं' आदिक भावना का अभाव हुआ, तब किसको कौन बन्धन कहे और किसको कौन मोक्ष कहे। सब कलना चित्त के फुरने से होती है। जब चित्त का फुरना नष्ट होता है, तब सब कलना का अभाव हो जाता है। तभी पुरुष शान्ति पाता है, अन्यथा नहीं। इससे चित्त को आत्मपद में लीन करो। जिसके आश्रय से यह जगत् उपजता और लीन होता है, उसी अनुपमरूप प्रत्यक् आत्मप्रकाश ज्ञानरूप आत्मा में स्थित होओ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे प्रत्यगात्मबोधवर्णनं
नाम सप्तपञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ ५७ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! परमतत्त्व परमात्मपद हमको सदा प्रत्यक्ष है, और वस्तुरूप वही है, उससे कुछ भिन्न नहीं। यह प्रत्यक् आत्मा सब सत्ता का दर्पण है; सब सत्ता इसी से प्रकट होती है। जैसे बीज से वृक्ष की सत्ता प्रकट होती है, वैसे ही आत्मा से जगत् सत्ता प्रकट होती है। हे राम ! मन, बुद्धि, चित्त अहंकार जड़ात्मक हैं। परमपद इनसे रहित है। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्रादिक सब उसी में स्थित हैं। जैसे चक्रवर्ती राजा निर्धन से ऊँचा है, वैसे ही उस सत्ता को पाकर जीव सब लोगों से ऊँचा हो जाता है। उस आत्मा को पाकर फिर मृत्यु को नहीं प्राप्त होता। न कभी शोकवान् होता है, न क्षीण। एक क्षणमात्र भी जो अप्रमादी होकर आत्मा को ज्यों का त्यों जानता है, वह संसार-कलना को त्यागकर मुक्त होता है। राम ने पूछा, हे भगवन् ! मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार का अभाव होने पर जो सत्ता सामान्य शेष रहती है, उसका भान कैसे होता है ?

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जो सब देहों में स्थित होकर भोजन और जल-पान करता और देखना, सुनना बोलना इत्यादि कर्म करता देख पड़ता है, वह आदि-अन्त से रहित, संवित् सत्ता, सर्वगत अपने आप में स्थित है। सब विश्वरूप वही है। आकाश में आकाश, शब्द में शब्द, स्पर्श में स्पर्श, नासिका में गन्ध, शून्य में शून्य, नेत्रों में रूप, पृथ्वी

में पृथ्वी, जल में जल, तेज में तेज, वृक्षों में रस, मन में मन, बुद्धि में बुद्धि, अहंकार में अहंकार, अग्नि में अग्नि, उष्णता में उष्णता, घट में घट, पट में पट, वट में वट, स्थावर में स्थावर, जङ्गम में जङ्गम, चेतन में चेतन, जड़ में जड़, काल में काल, नाश में नाश, बालक में बालक, यौवन में युवा, वृद्धता में वृद्ध और मृत्यु में मृत्युरूप होकर वही परमेश्वर स्थित है।

हे राम ! इस प्रकार सब पदार्थों में वह अभिन्नरूप स्थित है। नानात्व-दृष्टि भी आती है, परन्तु नाना नहीं है और भ्रम से भासित होती है। जैसे परछाहीं में भ्रम से वैताल जान पड़ता है, वैसे ही आत्मा में नानात्व भासित होता है। सबमें, सब ठौर, सब प्रकार, सर्व आत्मा ही स्थित है। ऐसा जो आत्मदेव सत्तासमान है, उसमें स्थित हो। इतना कहकर वाल्मीकिजी बोले कि इस प्रकार जब वशिष्ठजी ने कहा, तब दिन अस्त होने से सब सभासद् परस्पर नमस्कार करके स्नान को गये और सूर्य के निकलते ही फिर अपने-अपने आसन पर आ बैठे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे विभूतियोगोपदेशोनामाष्ट-पञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ ५८ ॥

रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! जैसे हमारे स्वप्न में पुर, नगर और मण्डल होते हैं, वैसे ही ब्रह्मादिक ने इस देह को ग्रहण किया है। उनको असत् प्रतीति है, तब हमको दृढ़ प्रतीति कैसे उपजी है ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! प्रथम ब्रह्मा को सर्ग असत् सा भासित होता है, वास्तव नहीं। सर्वगत चैतन्य संवित संसार के दर्शन से जब सम्यक् दर्शन का अभाव हुआ और स्वप्नरूप में आपसे अहंप्रतीति उपजी, तब वह दृढ़ होकर देखने लगा। जैसे अपने स्वप्न में जगत दृढ़ भासता है और मनुष्य उसे स्वप्न नहीं जानता, वैसे ही ब्रह्मा का जगत भी सत्य भासित होता है, स्वप्न नहीं जान पड़ता है। जो स्वप्न पुरुष से उपजा है, सो स्वप्नरूप है। हे राम ! ऐसा जो सर्ग है, वह जीव जीव प्रति उदय हुआ है। जैसे समुद्र में तरंग निकलते हैं, वैसे ही चैतन्यतत्त्व का आभास जगत दिखता है। जैसे स्वप्नपुर में असत् पदार्थ होते हैं, वैसे

ही ये पदार्थ भी अवास्तव हैं और मन के संकल्प से भ्रममात्र ही स्पष्ट भासित होते हैं। हे राम ! ऐसा पदार्थ कोई नहीं, जो इस जगत में सिद्ध नहीं होता, और का और नहीं भासित होता और मर्यादा नहीं त्यागता; क्योंकि सब पदार्थ मन के संकल्प से उपजे हैं।

तुम देखो कि जल में अग्नि स्थित है—जैसे समुद्र में वड़वाग्नि है, सो विपर्यय है। इसी कारण कहता हूँ कि सब मनोमात्र है। और देखो, आकाश में नगर वसते हैं, विमान प्रत्यक्ष चलते हैं और चिन्तामणि आदि से कमल उपजते हैं—जैसे हिमालय पर्वत में बरफ और सब ऋतु के फूल एक ही समय उपजते हैं, जैसे संकल्प के कल्पित वृक्ष से पत्थर निकल आते हैं; शिला में जल निकलता है, चन्द्रकान्तमणि से अमृत द्रवित होता है और निमेष में घट पट और पट घट हो जाते हैं। निदान स्वरूप के विस्मरण से जीव सत् को असत् देखता है, जैसे स्वप्न में अपना मरना देखता है; जल ऊपर को चलता देखता है; मेघ होकर स्वर्ग में गंगा वहती देखता है और पत्थर उड़ते देखता है; जैसे पंखों-वाले पहाड़ उड़ते हैं और चिन्तामणि शिलारूप से सब पदार्थ उपजते हैं। इत्यादि बातें भ्रम से नानात्व विपर्ययरूप ही दिखती हैं। इससे तुम देखो कि सब मनोमात्र हैं, और से और ही हो जाते हैं। हे राम ! यह इन्द्रजाल, गन्धर्व-नगर और शाम्बरी माया के सदृश है। असत् ही भ्रम से सतरूप में भासित होता है। ऐसा पदार्थ कोई नहीं है, जो सत् नहीं और असत् भी नहीं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे जाग्रतस्वप्न विचारोनामै-
कोनषष्टितमस्सर्गः ॥ ५९ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! यह संसार मिथ्या है। जो पुरुष इसको सत्य जानता है, वह महामूर्ख है और भ्रम में भ्रम देखकर महामोह को प्राप्त होता है। जैसे कोई मृग गढ़े में गिर पड़ता है तो दुःखी होता है और फिर उससे भी बड़े गढ़े में गिरता है तो अति दुःख पाता है, वैसे ही जो मूर्ख पुरुष है, वह आत्मा के अज्ञान से संसाररूपी गढ़े में गिरता है और उससे अनेक भ्रम देखता है, एक स्वप्न के बाद दूसरा स्वप्न

देखता है। इस विषय का एक इतिहास कहता हूँ, उसे मन लगाकर सुनो। एक मननशील संन्यासी योग के आठवें अङ्ग 'समाधि' में स्थित था। उसका हृदय समाधि करते-करते शुद्ध हो गया था। वह समाधि में दिन बिताता और जब समाधि खुलती तो फिर आसन लगाकर समाधि में लग जाता था। इसी प्रकार जब बहुत काल बीता तो एक समय समाधि खुलने पर वह एक चिन्तन करने लगा कि जैसे साधारण पुरुष विचरते और चेष्टा करते हैं, वैसे ही मैं भी कुछ चेष्टा करूँ। ऐसा विचार कर उसने मन के संकल्प से विश्व की कल्पना की और उसमें आप भी एक बना। उसका नाम भीवट हुआ। निदान वह मद्यपान करता और ब्राह्मणों की सेवा भी करता। चेष्टा करते-करते वह सो गया। स्वप्न में उसको ब्राह्मण के शरीर का भान हुआ तो वह उस ब्राह्मण शरीर में वेद का अध्ययन और पाठ करने लगा। ऐसी चेष्टा से जब उसे चिरकाल बीता तो फिर स्वप्न हुआ। उसमें उसने अपने को बड़ी सेना से युक्त राजा देखा और उस सेना के साथ वह राजा होकर विचरने लगा।

कुछ काल जब इसी प्रकार व्यतीत हुआ तो फिर स्वप्न हुआ और उस स्वप्न में उसने अपने को चक्रवर्ती राजा देखा। वह चक्रवर्ती होकर सारी पृथ्वी पर आज्ञा चलाने लगा। जब कुछ काल बीता तो फिर अपने को देवाङ्गना के रूप में देखा। वह देवता के साथ बाग में विचरने लगी और जैसे बेल वृक्ष के साथ शोभा पाती है, वैसे ही वह देवता के साथ शोभा पाने लगी। इसी प्रकार जब कुछ काल देवता के साथ बीता तो फिर स्वप्न हुआ और उसमें उसने अपने को हरिणी देखा और वन में चरने लगा। कुछ काल ऐसे भी व्यतीत हुआ तो फिर स्वप्न हुआ और उसने अपने को देवताओं के बाग की बेल देखा। जब ऐसे कुछ समय बीता तो फिर स्वप्न में अपने को भँवरी देखा और सुगन्ध को ग्रहण करने लगा। उसके अनन्तर फिर उसने स्वप्न में देखा कि मैं कमलिनी हूँ। वहाँ एक दिन हाथी आकर बेल को खा गया। जैसे कोई मूर्ख बालक भली वस्तु को भी तोड़ डालता है, वैसे ही वह

मूर्ख हाथी बेल तोड़कर खा गया। उसके उपरान्त उस बेल ने हाथी का शरीर पाकर बड़ा दुःख पाया और गढ़े में गिरा। थोड़े समय के उपरान्त हाथी को स्वप्न हुआ और वह भँवरी होकर कमलों में विचरने लगा। जब कुछ काल बीता तो फिर वह बेल हुआ और उस बेल के निकट एक हाथी आया और उस हाथी के पाँवों से वह बेल चूर्ण हो गई। तब उस बेल को एक हंस ने खाया। तब वह बेल हंस होकर बड़े मानसरोवर में विचरने लगी। फिर उस हंस के मन में आया कि मैं ब्रह्मा का हंस होऊँ। तब वह अपने संकल्प से ब्रह्मा का हंस बन गया जैसे जल का तरङ्ग बन जावे। तब ब्रह्मा के उपदेश से हंस को आत्मज्ञान प्राप्त हुआ।

हे राम! अज्ञान से ऐसे भ्रम में पड़कर फिर ज्ञान से वह भ्रम शान्त हुआ। फिर विदेह और मुक्त वह होगा। वह हंस सुमेरुपर्वत में उड़ा जाता था। तब उसके मन में आया कि मैं रुद्र होऊँ। इसलिए सत संकल्प से रुद्र हो गया। जैसे शुद्ध दर्पण में शीघ्र ही प्रतिबिम्ब पड़ता है, वैसे ही शुद्ध अन्तःकरण के संकल्प से तुरन्त वह रुद्र हो गया। जिसको अनुत्तर ज्ञान हो, उसको रुद्र कहते हैं और अनुत्तर ज्ञान वह है जिसके पाने से और कुछ पाने को नहीं रह जाता। ध्यान से अपने को देख उस रुद्र के मन में विचार हुआ कि बड़ा आश्चर्य है कि मैं अज्ञान से इतने बड़े भ्रम को प्राप्त हुआ था। बड़ी आश्चर्यमयी माया है। मैं तो एक ओर पड़ा हूँ और यह विश्व मेरा स्वरूप है। पूर्व कल्पित जो मेरे शरीर हैं, उनको अब जाकर जगाऊँ। तब रुद्र उठ खड़ा हुआ और अपने स्थान को चला। प्रथम संन्यासी के शरीर को आकर देखा और चित्तशक्ति से उसे जगाया तो संन्यासी के शरीर में ज्ञान हुआ कि सबमें मैं ही स्थित हूँ। परन्तु संन्यासी ने जाना कि मुझको रुद्र ने जगाया है और इतने शरीर मेरे और भी हैं। फिर वहाँ से वह रुद्र और संन्यासी दोनों चले और झींवट के स्थान में आये तो देखा कि झींवट शव की नाईं पड़ा है; मदिरा के बर्तन पड़े हैं, चेतना भी वहीं भ्रमती है और नाना प्रकार के स्थान देखती है—जैसे झरने के छिद्र में चींटी

भ्रमती है। तब उन्होंने झींवट को चित्तशक्ति से जगाया और वह उठ खड़ा हुआ। तो उसको ऐसा स्मरण हुआ कि मुझे तो इन्होंने जगाया।

फिर झींवट के मन में विचार हुआ कि इतने शरीर मेरे और भी हैं। निदान रुद्र, संन्यासी और झींवट तीनों चले। इन्होंने विचार किया कि हमने इतने शरीर क्योंकर पाये? आदि में तो मैं एक परमात्मा में चैतन्योन्मुख होकर संन्यासी हुआ। फिर संन्यासी झींवट हुआ और मद्यपान करने लगा। फिर ब्राह्मण होकर वेद का पाठ करने लगा और उसके पुण्य से राजा का शरीर धारण किया। उसके बाद जो बड़ा पुण्य प्राप्त हुआ, उससे चक्रवर्ती राजा हुआ। चक्रवर्ती राजा के शरीर में काम बहुत हुआ, उससे देवता की स्त्री हुआ। स्त्री के शरीर में नेत्रों में बहुत प्रीति थी, उससे हरिणी हुआ। फिर भँवरी हुआ। उसके बाद बेल हुआ और इसके बाद जो शरीर धारण किये सो मिथ्या धारण किये और अज्ञान से बहुत काल भटकता रहा। अनेक वर्ष और सहस्रों युग व्यतीत हो गये हैं। संन्यासी से लेकर रुद्र पर्यन्त वासना के कारण जन्म पाये हैं। इतने जन्म पाकर ब्रह्मा का हंस हुआ। तब वहाँ ज्ञान की प्राप्ति हुई, क्योंकि पूर्व में अभ्यास किया था, उससे अकस्मात् सत्संग प्राप्त हुआ। ऐसा विचार करते वे वहाँ से चले और चैतन्य आकाश में उड़कर वेदपाठ करनेवाले ब्राह्मण की सृष्टि में गये तो उसको देखा कि मरा-सा पड़ा है। चित्तशक्ति से उन्होंने उसको जगाकर रुद्र, संन्यासी, मद्यपान करनेवाला झींवट और ब्राह्मण, चारों वहाँ से चले और चित्ताकाश में उड़कर राजा की सृष्टि में पहुँचे तो देखा कि राजा की देह चेष्टा करती है। राजा, जिनकी देह सुवर्ण की नाईं शोभायमान है, अपने मन्दिर में रानी सहित शय्या पर सोये हैं और सहेलियाँ चँवर डुला रही हैं। तब उन्होंने राजा को चित्तशक्ति से जगाया। उसने देखा कि सब विश्व मेरा ही स्वरूप है और इतने शरीर मैंने अज्ञान से धारण किये हैं। निदान रुद्र, संन्यासी मद्यपान करनेवाला झींवट, ब्राह्मण और राजा वहाँ से चले और हाथी आदि जितने शरीर धारण किये थे, उन सबको जगाया। उनमें यही

निश्चय हुआ कि हम चिन्मात्ररूप और आवरण से रहित हैं अर्थात् अज्ञान के स्फुरण से रहित हैं।

हे राम ! तब उनके शरीर अलग-अलग देख पड़े, परन्तु चेष्टा भिन्न-भिन्न और निश्चय सबका एक हुआ। उनका नाम शतरुद्र हुआ। हे राम ! सम्पूर्ण विश्व अज्ञान के विकार से होता है, ज्ञान से देखिये तो कुछ नहीं। ऐसे ही उनका संवेदन और निश्चय एकसा हुआ। एक देखे तो जाने कि सब ही मेरे रूप हैं और जब दूसरा देखे तो विचारे कि सब मेरे ही रूप हैं। जैसे समुद्र से जो अनेक तरङ्ग उठते हैं, उनके आकार भिन्न-भिन्न होते हैं और स्वरूप एक-सा ही होता है, वैसे ही ज्ञानवान् पुरुष सारे विश्व को अपना ही स्वरूप देखते हैं और अज्ञानी उनको भिन्न-भिन्न और अपने को उनसे भिन्न जानते हैं। एक को दूसरा नहीं जानता और दूसरे को पहला नहीं जानता। हे राम ! यह विश्व अपना ही स्वरूप है, पर अज्ञान से भिन्न जान पड़ता है। चिन्मात्र में फुरने को अज्ञान कहते हैं। चित्त के चेतने से संसार होता है और न फुरने से वह आत्मस्वरूप ही है। इससे हे राम ! वासना का त्याग करो और कुछ नहीं, जिस प्रकार शत्रु मरे उस प्रकार मारिये—यही यत्न करो। अब मैं तुमसे ऐसा उपाय कहता हूँ, जिसमें कुछ यत्न नहीं और शत्रु भी मारा जायगा। हे राम ! यह चिन्तना ही दुःख है और चिन्तना से रहित होना ही सुख है—आगे जो तुम्हारी इच्छा हो सो करो। इस चित्त के चिन्तन से संसार है और निवृत्त होने में स्वरूप-बोध। जैसे पत्थर में पुरुष पुतलियों की कल्पना करता है तो उसमें पत्थर से भिन्न पुतलियों का अभाव है, वैसे ही चित्त ने विश्व की कल्पना की है। जब चित्त निवृत्त हो, तब विश्व अपना ही स्वरूप है; भिन्न नहीं। चित्त से जहाँ जाता है वहाँ पञ्चभूत ही देख पड़ते हैं, आत्मा नहीं देख पड़ता। और चित्त से रहित ज्ञानी जहाँ जाता है वहाँ आत्मा ही दीखता है। जब चित्त की वृत्ति बहिर्मुख होती है, तब संसार होता है और पञ्चभूत ही दृष्टिगोचर होते हैं और जब चित्त की वृत्ति अन्तर्मुख होती है, तब अपना ज्ञानरूप आप ही भासित होता

है। ये सब पदार्थ ज्ञानरूप आत्मा विना सिद्ध नहीं होते। प्रथम आपको जानता है तो और पदार्थ जाने जाते हैं। इसी से ज्ञानवान् सब अपना आप जानता है।

हे राम! ये जो कुछ पदार्थ हैं, सो चिन्तन मे हैं। और जितने जीव हैं उनकी संवेदना भिन्न-भिन्न है। संवेदना में अपनी-अपनी सृष्टि है। जैसे किसी सोये हुए पुरुष को अपने स्वप्न की सृष्टि भासित होती है और जो उसके पास बैठा होता है उसको नहीं भासित होती, क्योंकि उसकी दृष्टि विश्व-स्वप्न को नहीं जानती, वैसे ही जो ज्ञानी है, उसको अपना रूप आप ही भासित होता है और इस सब जगत् को वह अपना ही रूप जानता है। अज्ञानी जिस ओर देखता है, उसी ओर पञ्चभूत दृष्टिगोचर होते हैं। जैसे पृथ्वी को खोदने से आकाश ही देख पड़ता है, वैसे ही ज्ञानी चित्तसहित जहाँ देखता है, वहाँ पञ्चभूत ही दृष्टि आते हैं। इससे हे राम! तुम कामना से रहित हो। कामना ही से बन्धन है और कामना वासना न रहना ही मोक्ष है। आगे जैसी तुम्हारी इच्छा हो वैसा करो। हे राम! जो न चेतने मे अस्त हो जाय, उसके नाश में कृपणता क्या करना है। जो वासना-विनाश से प्राप्त हो, उसको प्राप्त रूप जानो। राम ने पूछा, हे मुनीश्वर! ये स्वप्न में भीवट और ब्राह्मण से लेकर अनेक रूपी संन्यासी के हुए, फिर उसके उपरान्त क्या हुआ? वशिष्ठजी बोले, हे राम! ब्राह्मण आदि जितने शरीर थे, वे रुद्र के जगाने पर सुखी हुए। जब सब इकट्ठे हुए, तब रुद्र ने उनसे कहा, हे साधो! तुम अपने-अपने स्थान को जाओ और कुछ काल अपने पुत्र-कलत्र के साथ भोग भोगो। तब तुम मेरे गण होकर मुझको प्राप्त होगे और महाकल्प में हम सभी विदेहमुक्त होंगे।

हे राम! जब रुद्र ने ऐसे कहा, तब सब अपने-अपने स्थान को गये। रुद्र भी अन्तर्धान हो गये। वे अब भी तारों का आकार धारण किये कभी-कभी हमको आकाश में दृष्टिगोचर होते हैं। राम ने पूछा, हे भगवन्! आपने कहा कि संन्यासी ने भीवट आदि सब शरीर

धारण किये सो वे सत् कैसे हुए और उनकी सृष्टि कैसे सत हुई ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! आत्मा सर्वव्यापक, शुद्ध, चैतन्य आकाश और अनुभवरूप है। उसमें जैसे देशकाल और वस्तु का निश्चय होता है, वैसा ही वह बन जाता है। जैसा-जैसा-स्फुरित होता है, वैसा ही वैसा आगे होता है। जिसका मन शुद्ध होता है, उसका सत संकल्प होता है और वह जैसा संकल्प करता है, वैसा ही होता है। जो तुम कहो कि संन्यासी का अन्तःकरण शुद्ध था, उसने नीच-ऊँच जन्म कैसे पाये ? अर्थात् मद्यपान करनेवाला, भँवरी, बेल आदि नीच और ऊँच अर्थात ब्राह्मण, राजा आदि ऐसे जन्म शुद्ध अन्तःकरण में न चाहिये, तो इसका उत्तर यह है कि संवेदन में जैसी भावना उठती है, वैसा ही होता देख पड़ता है। जैसे एक पुरुष का अन्तःकरण शुद्ध हो और उसके मन में आवे कि मेरा एक शरीर विद्याधर का और एक शरीर भेड़ का हो तो उसके भले और बुरे दोनों ही शरीर हो जाते हैं। जो तुम कहो कि बुरा क्यों बना, भला ही बनता तो उसका उत्तर सुनो। देखो, किसी भले पण्डित के घर पुत्र होता है; वह यदि संस्कार अर्थात् वासना से चोर हो जाय तो पिता को दुःख होता है। इससे हे राम ! सब वासना ही से ऊँच-नीच होते हैं। जब अभ्यास और परमयोग होता है, तब जीव शुद्ध होता है। अभ्यास, मन्त्र, जप और चित्त के स्थित करने को योग कहते हैं। इससे जैसी चिन्तना होती है, वैसी ही सिद्धि होती है, और अज्ञानी को नहीं होती। जैसे वस्तु निकट पड़ी है और भावना नहीं तो दूर है, वैसे ही अज्ञानी की भावना नहीं तो न दूरवाली वस्तु प्राप्त होती है और न निकटवाली। वह सिद्ध इस-लिए नहीं होती कि उसकी भावना दृढ़ नहीं और हृदय भी शुद्ध नहीं। संकल्प भी तब सिद्ध होता है, जब हृदय शुद्ध होता है। शुद्ध हृदयवाला जिसकी चिन्तना करता है वह चाहे दूर हो तो भी सिद्ध होता है, और जो निकट है, वह भी सिद्ध होता है। जो तुम कहो कि संन्यासी तो एक था, बहुत चैतन्य शरीर कैसे हुए तो इसका उत्तर सुनो। जो कोई योगीश्वर और योगिनी देवियाँ हैं उनका संकल्प

सत्य है। उनके जैसा संकल्प उठता है, वैसा ही होता है। ऐसे सत् संकल्पवाले मैंने अनेक देखे हैं।

एक राजा सहस्रबाहु अर्जुन था। वह अपने घर में बैठा था और उसके सिर पर छत्र झूलता और चँवर होते थे। उसके मन में संकल्प हुआ कि मैं मेघ होकर बरसूँ। उस संकल्प के करने से उसका एक शरीर तो राजा का रहा और एक शरीर से वह मेघ होकर बरसने लगा। विष्णु भगवान् एक शरीर से तो क्षीरसमुद्र में शयन करते हैं और प्रजा की रक्षा के निमित्त और शरीर भी रख लेते हैं, जो अवतार कहाते हैं। यज्ञदेवियाँ अपने-अपने स्थानों में होती हैं और बड़े ऐश्वर्य से विचरती हैं। इन्द्र एक शरीर से स्वर्ग में रहता है और दूसरे शरीर से जगत् में भी उपस्थित रहता है। योगीश्वरों का जैसा संकल्प होता है, वैसा ही सिद्ध होता है। और जो अज्ञानी मूर्ख हैं उनके मन में बड़ा भ्रम होता है और वे बड़े मोह को प्राप्त होकर मोह से नीच गति पाते हैं। जैसे बड़े पर्वत के ऊपर से पत्थर गिरता है तो वह नीचे को जाता है, वैसे ही मूर्ख आत्मपद से गिरकर संसाररूपी गढ़े में गिरते और बड़े दुःख पाते हैं। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! आपने कहा कि संसार स्वप्नमात्र है सो मैंने जाना कि अनन्त मोहरूपी विषमता है और आत्मचैतन्यरूप आनन्द के प्रमाद से जीव अपने को जड़ और दुःखी जानता है। यह बड़ा आश्चर्य है। हे भगवन्! यह जो आपने संन्यासी का वृत्तांत कहा, उसके समान कोई और भी है अथवा नहीं सो कहिये? वशिष्ठजी बोले, हे राम! संसाररूपी मढ़ी में मैं रात्रि के समय समाधि करके देखूँगा और तुमसे प्रभात को जैसा होगा, वैसा कहूँगा।

इतना कहकर वाल्मीकिजी बोले, हे राजन्! वशिष्ठजी ने जब यह कहा, तब मध्याह्न का समय था। नौबत-नगाड़े बजने लगे, जिनका प्रलयकाल के मेघ का सा शब्द होने लगा। वशिष्ठजी के चरणों पर राजा और देवताओं ने फूल चढ़ाये और सबने बड़ी पूजा की। जैसे बड़ा पवन चलता है और उसके वेग से बाग में वृक्षों के फूल पृथ्वी

पर गिर पड़ते हैं, वैसे ही सबने बहुत फूलों की वर्षा की। इस प्रकार प्रथम तो बहुत पूजा होती रही, फिर वशिष्ठजी को नमस्कार करके सब उठ खड़े हुए और आपस में नमस्कार किया। फिर जैसे मन्दराचल पर्वत में सूर्य उदय होता है, वैसे ही वशिष्ठजी आदि ऋषि और राजा दशरथ आदि सब राजा उठे। तब पृथ्वी के राजा और प्रजा पृथ्वी पर अपने स्थान को चले और आकाश के सिद्ध और देवता आकाश को चले। सब अपने-अपने कामों में जा लगे और जैसा शास्त्रोक्त व्यवहार है उसे करने लगे। जब रात्रि हुई, तब विचार करते रहे कि वशिष्ठजी ने कैसे ज्ञान उपदेश किया है और उस विचार में उनकी रात्रि एक क्षण की तरह बीत गई। इतने में सूर्य की किरणें निकलते ही राम-लक्ष्मण आदि सब आये और परस्पर नमस्कार कर अपने-अपने आसन पर शान्तरूप होकर बैठे, जैसे पवन न चलने पर कमल स्थिर होते हैं।

तब वशिष्ठजी ने अनुग्रह करके आप ही कहा, हे राम! तुम्हारी प्रीति के लिए मैंने संसार में बहुत खोजा और आकाश, पाताल और सप्तद्वीप सब ढूँढ़ डाले; परन्तु ऐसा कोई संन्यासी न देखा और न अन्य किसी का संकल्प उसका जैसा भासित होता है। जब एक पहर रात्रि रही तब मैंने फिर ढूँढ़कर उत्तर दिशा में एक प्राचीन चिन्माचीन नाम के नगर में एक मढ़ी देखी। उसके दरवाजे भीतर से बंद थे। उसमें पके बालोंवाला एक संन्यासी बैठा था। बाहर उसके चेले बैठे थे। वे इस डर से दरवाजा नहीं खोलते थे कि कहीं ऐसा न हो कि हमारे गुरु की समाधि खुल जाय। वह मुनि उस स्थान में दूसरे ब्रह्मा के समान बैठा है। उसको बैठे अभी इक्कीस दिन हुए हैं, पर उसको समाधि में सहस्र वर्षों का अनुभव हुआ है और उसने बहुत जन्म भी पाये हैं, जो उसको प्रत्यक्ष भासित हुए हैं। उसने सृष्टि भी प्रत्यक्ष देखी है और उसमें विचरा है। हे राम! इसका सा एक और मुनि भी पूर्व कल्प में था। इतना सुन राजा दशरथ ने कहा, हे महामुनीश्वर! जो आप आज्ञा दें तो मैं अपना अनुचर चिन्माचीन नगर में भेजूँ कि वह वहाँ जाकर उस संन्यासी को जगावे।

वशिष्ठजी ने कहा, हे राजन ! वह संन्यासी अब ब्रह्मा का हंस होकर ब्रह्मा के उपदेश से जीवन्मुक्त हुआ है और यह शरीर उसका अब मृतक हुआ है। अब उसमें पुर्यष्टका अर्थात जीव नहीं है। अब उसको क्या जगाना है ? एक महीने पीछे शिष्य उसका दरवाजा खोलेंगे तो उस नगर के लोग देखेंगे कि वह मृतक पड़ा है। इससे हे राम ! यह विश्व संकल्पमात्र ही है। और जो तुम कहो कि एक से बहुत क्योंकर हुए तो सुनो, ये मुनीश्वर, ऋषि, राजा आदि जो लोग हैं, वे अनेक बार एकसा शरीर धारण करते हैं। कभी कई बार कुछ सदृश और कुछ असदृश धारण करते हैं, कभी थोड़ा मिलता हुआ शरीर धारण करते हैं। और अनेक बार पहले से बिल्कुल न मिलता हुआ विलक्षण शरीर धारण करते हैं। इन नारदजी के समान और भी नारद होंगे। उनकी चेष्टा भी ऐसी ही होगी और शरीर भी ऐसा ही होगा। व्यास, शुकदेव, भृगु, भृगु के पिता जनक, कर्कर ऋषीश्वर अत्रि और अत्रि की स्त्री भी जैसी कि अब है वैसी ही होगी। जैसे समुद्र में तरङ्ग एक से और न्यून या अधिक भी होते हैं, वैसे ही यह संसार ब्रह्मलोक से लेकर पाताल तक सब मन का रचा हुआ है और सब मिथ्या है। जब यह चित्तकला बहिर्मुख होती है, तब संसार और देश काल होता है। और जब अन्तर्मुख होती है, तब आत्मपद प्राप्त होता है। जब तक बहिर्मुख होती है, तब तक दुःख प्राप्त होता है। अपना स्वरूप आनन्दरूप है। उसमें चित्तकला जानती है कि मैं सदा दुखी हूँ। देह और इन्द्रियों से मिलकर जीव दुखी होता है। इससे हे राम ! इस अज्ञानरूप वासना से तुम रहित बनो। वासना से यह अवस्था प्राप्त होती है। जैसे चन्द्रमा अमृत से पूर्ण है और उसमें चर्मदृष्टि से कलङ्क देख पड़ता है, वैसे ही अमृतमय चन्द्रमारूप आत्मा में अज्ञानदृष्टि से जन्म, मरण, शोक, दुःख भय आदि कलङ्क दीखते हैं। यह माया महाआश्चर्य रूप है। जैसे चन्द्रमा एक है और नेत्रदोष से बहुत चंद्रमा भासित होते हैं, वैसे ही एक अद्वैत आत्मा में नानात्वरूप विश्व का भान अज्ञान से होता है। यही माया है।

हे राम ! तुम एकरूप आत्मा हो। उसमें फुरने से विश्व कल्पित हुआ है। इससे वासना से रहित हुए विना आत्मा का दर्शन नहीं होता। जैसे उदय हुआ सूर्य भी वादल के होते शुद्ध नहीं दिखता, वैसे ही स्फुरणरूपी वादल के दूर होने पर ही आत्मरूपी सूर्य शुद्ध भासित होता है और दृश्य, दर्शन, द्रष्टा फुरने से ही कल्पित हुए हैं। हे राम ! इस संसार का सार जो आत्मा है, जिसमें सुषुप्त की तरह मौन हो रहो। रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! मैं तीन मौन जानता हूँ—एक वाणी का मौन अर्थात् चुप रहना; दूसरा इन्द्रियों का मौन और तीसरा कष्ट-मौन अर्थात् हठ करके मन और इन्द्रियों को वश करना। सुषुप्त मौन मैं नहीं जानता। आप वताइए। वशिष्ठजी वोले, हे राम ! ये तीनों कष्ट-मौन तपस्वियों के हैं और सुषुप्त मौन ज्ञानी और जीवन्मुक्त का है। वे तीनों मौन जो तुमने कहे, सो अज्ञानी तपस्वियों के हैं। उनको फिर सुनो। एक वाणी का मौन कि वोलना नहीं, दूसरा मौन समाधि कि नेत्रों का मूँद लेना और कुछ न देखना और तीसरा हठकर स्थित होना और मन और इन्द्रियों को स्थिर करना। एक मौन इन्द्रियों की चेष्टा से रहित होना है। अव ज्ञानी का सुषुप्त मौन सुनो। वाणी और इन्द्रियों से चेष्टा करना, पर आत्मा से भिन्न और कुछ न भासित होना, अथवा ऐसे होना कि न मैं हूँ, न जगत् है, अथवा ऐसे होना कि सव मैं ही हूँ। ऐसे निश्चय में स्थित होना वड़ा उत्तम मौन है।

हे राम ! आत्मा की सिद्धि विधि से भी होती है और निषेध से भी। उस आत्मा में स्थित होना वड़ा मौन है। हे राम ! यह जो मैंने सुषुप्त मौन कहा है, सो क्या है, सुनो ! द्वैतरूप संसार के फुरने से सुषुप्त होना; आत्मा में जागना और ऐसे देखना कि न मुझमें जाग्रत् है, न स्वप्न है और न सुषुप्ति है—इस निश्चय में स्थित होना तुरीयातीत अवस्था है। यह पञ्चम मौन है। ऐसा तुरीयातीत पद अनादि, अनन्त, जरा से रहित, शुद्ध निर्दोष है। हे राम ! ज्ञानी इन्द्रियों को रोकने की इच्छा भी नहीं करता और न विचरने की इच्छा करता है। जो स्वाभाविक आ पड़े, उसी में स्थित होता है। यह परम मौन है।

ज्ञानी को सुख की इच्छा भी नहीं और दुःख का त्राम भी नहीं। वह हेय और उपादेय से रहित है। हे राम! तुम रघुवंश में चन्द्रमा हो, अपने स्वभाव में स्थित हो। संसारभ्रम मन के फुरने से होता है, सो मिथ्या है, वास्तव नहीं। और न शरीर सत्य है, न माया सत्य है। हे राम! तुम्हारा स्वरूप ओंकार (चैतन्य ब्रह्म) है। इस ओंकार को अङ्गीकार करके स्थित होना परम उत्तम मौन है।

राम ने पूछा, हे भगवन्! यह जो पीछे आपने सब रुद्र कहे, वे रुद्र थे, अथवा रुद्र के गण थे? वशिष्ठजी बोले, हे राम! जिसको रुद्र कहते हैं, उसी को गण कहते हैं। ये सभी रुद्र हैं। फिर राम ने पूछा, हे भगवन्! यह जो आपने कहा कि सब रुद्र हुए तो ये एक चित्र थे, सब क्योंकर हुए? जैसे दीपक से दीपक होता है, क्या इसी भाँति हुए? वशिष्ठजी बोले, हे राम! एक सावरण है, दूसरा निरावरण। जिसका शुद्ध अन्तःकरण है, वह निरावरण है और जिसका मलिन अन्तःकरण है, वह सावरण है। शुद्ध अन्तःकरण में जैसा निश्चय होता है, वैसा ही तत्काल आगे सिद्ध होता है और मलिन अन्तःकरण का निश्चय सिद्ध नहीं होता। इसमें जो शुद्ध निवारण रुद्र है, वही आत्मा और सर्वव्यापी है। जो उसका निश्चय होता है, वह सत्य है। राम ने पूछा, हे भगवन्! सदाशिव की चेष्टा तो मलिन है। मुण्डों की माला गले में धारण करते हैं और विभूति लगाकर श्मशान में विहार करते हैं। स्त्री बायें अङ्ग में रहती है। आप क्योंकर कहते हैं कि उनका अन्तःकरण शुद्ध है? वशिष्ठजी बोले, हे राम! शुद्ध, अशुद्ध अज्ञानी को कहते हैं। जो शुद्ध रहे, अशुद्ध में न लिप्त हो, वह ज्ञानी है। वह अपने में क्रिया नहीं देखता और उसको शुद्ध-अशुद्ध में राग-द्वेष नहीं होता। ऐसे सदाशिवजी को ग्रहण या त्याग नहीं है। उनकी दृष्टि में जो स्वाभाविक चेष्टा होती है सो हो। वह ऐसे होती है, जैसे आदि परमात्मा विष्णु भगवान् चार भुजा धारण किये संसार की रक्षा करने के लिए शुद्ध चेष्टा से अवतार लेकर धर्म की रक्षा करते हैं और पापियों को मारते हैं। यह आदि स्फुरण हुआ है।

जो क्रिया स्वाभाविक ही आकर प्राप्त हो, उस क्रिया का रागद्वेष करके उनको हेय या उपादेय कुछ नहीं है। उनको क्रिया का अभिमान भी नहीं होता, इसी से क्रिया का बंधन उनको नहीं होता। इससे यह सिद्ध है कि संसार स्फुरण मात्र है। जब तुम फुरने से रहित होगे, तब तुमको त्रिपुटी न भासेगी अर्थात् आत्मा से भिन्न कुछ नहीं भासित होगा। इससे अज्ञानरूप फुरने से रहित होकर जब तुमको आत्मपद का साक्षात्कार होगा, तब तुम जानोगे कि मुझमें स्फुरण, दृश्य, अदृश्य कुछ नहीं, केवल आत्मपद है, जिसमें एक कहना भी नहीं, तो द्वैत कहाँ से हो ?

हे राम ! दृश्य, अदृश्य, फुरना न फुरना और विद्या, अविद्या, ये सब उपदेश के निमित्त कहते हैं, आत्मा में कुछ नहीं कहा जाता। आत्मा एक है, जिसमें द्वैत का अभाव है। जब चित्त परिणाम बहिर्मुख होता है, तब विश्व का भान होता है और जब चित्त अन्तर्मुख परिणाम पाता है, तब अहंता और ममता का नाश होता है और चैतन्य शेष रहता है। जब अतिशय अन्तर्मुख परिणाम होता है, तब चैतन्य भी नहीं कहा जाता, और जब इससे भी अतिशय परिणाम पाता है, तब 'है' या 'नहीं' भी नहीं कहा जाता। हे राम ! ऐसा तुम्हारा आत्मा अपना आप स्वरूप और शान्तपद है। उसमें वाणी की गति नहीं कि वह ऐसा है या वैसा है, यह कहा जाय। ऐसा कहिये तो इन्द्रियों का विषय है और वैसा कहिये तो इन्द्रियों से परे है। जब तुम अपने में स्थित होगे, तब जानोगे कि मुझमें अहं का फुरना कुछ नहीं है। आत्मरूपी सूर्य का साक्षात्कार होने से दृश्यरूपी अन्धकार का अभाव हो जायगा क्योंकि आत्मा तुम्हारा अपना रूप है जो केवल शान्तरूप और निर्मल है। जैसे गम्भीर समुद्र वायु से रहित होता है, वैसे ही आत्मरूपी समुद्र संकल्परूपी वायु से रहित गम्भीर और शुद्ध है। यह संसार चित्त का चमत्कार है। यह निरंश है, इसमें अंशांशी भाव नहीं—यह अद्वैत है। हे राम ! जब ऐसे बोध में स्थित होगे, तब इस विश्व को भी आत्मरूप देखोगे। यदि बोध बिना

देखोगे तो विश्व का भान होगा। इससे हे राम ! बोध में स्थित रहो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे ब्रह्मैकतागनिपादनं
नाम षष्टितमस्सर्गः ॥ ६० ॥

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! सदाशिव का आदि में स्फुरण हुआ है। वह त्रिनेत्र है, विश्व का संहार करते हैं और शिरों की माला धारण किये हैं। ब्रह्मा के चार मुख हैं और चारों वेद हाथ में हैं। वह संसार की उत्पत्ति करते हैं। उनकी ऐसे ही उत्पत्ति हुई है। हे राम ! ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र, ये तीनों एकरूप हैं। इनकी यही चेष्टा स्वाभाविक है। उन्होंने यह अपना कर्म न राग से अङ्गीकार किया है और न द्वेष करके उसका त्याग करते हैं। उनकी यह संज्ञा भी लोगों के देखने के लिए है। वे अपनी जान में कुछ नहीं करते; क्योंकि बोध में ही उनका जाग्रत है। बोध में जाग्रत क्या और कैसे होता है सो भी सुनो। बोध सांख्यमार्ग से होता है और जागृति योगमार्ग से होती है। सांख्यमार्ग है तत्त्व और मिथ्या को विचारना। तत्त्व इस ज्ञान को कहते हैं कि मैं आत्मा, सत और चैतन्य हूँ, और सब दृश्य मिथ्या, जड़ और असत हैं। अज्ञान मुझमें कल्पित है। असल में मैं अद्वैत आत्मा हूँ और मुझमें अज्ञान और दृश्य, दोनों नहीं हैं। ऐसे निश्चय में स्थित होना सांख्यविचार है। योग प्राणों के स्थिर करने को कहते हैं। जब प्राण स्थिर होते हैं, तब मन भी स्थिर हो जाता है और जब मन स्थिर होता है तब प्राण भी स्थिर होते हैं—इनका परस्पर सम्बन्ध है।

राम ने पूछा, हे भगवन् ! जो प्राण ही स्थिर होने से जीव मुक्त होता है, तो मृतक पुरुषों के तो प्राण नहीं रहते—वे सब मुक्त होने चाहिए ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! प्रथम तो श्रवण करो कि प्राण क्या पदार्थ है। यह जीव पुर्यष्टका में स्थित होकर जैसी वासना करता है, शरीर को त्यागकर उसी के अनुसार आकाश में स्थित होता है। इसी का नाम प्राण है। उस वासनारूप प्राण से फिर उसको संसार का भान होता है और जब प्राण की वासना क्षय होती है तब वह मुक्त होता है। ज्ञानी की वासना क्षीण हो जाती है, इससे वह जन्म-मरण

से रहित होता है। जैसे भुना बीज फिर नहीं उगता, वैसे ही ज्ञानी को वासना के अभाव से जन्म-मरण नहीं होता। हे राम ! जन्म-मरण दोनों मार्गों से निवृत्त होता है और उसे दोनों का फल कहा है। हे राम ! ज्ञान से चित्त सत्यपद को प्राप्त होता है और योग से प्राणवायु स्थिर होती है। तब वासना का क्षय हो जाता है। जब स्वरूप की प्राप्ति होती है, तब संसार के पदार्थों का अभाव हो जाता है। जैसे रसायन से ताँबा सोना हो जाता है, फिर ताँबे का भाव नहीं रहता, वैसे ही ज्ञान से विश्वरूपी ताँबे की संज्ञा नहीं रहती। जैसे ताँबे का ताँबापन जाता रहता है, वैसे ही ज्ञान से जब चित्त सत्यरूप हुआ तब फिर संसारी नहीं होता। आत्मा में न बन्धन है और न मोक्ष। परमात्मा एक अद्वैत है। तब उसमें बन्ध कहाँ और मोक्ष कहाँ ? बन्धन और मुक्ति चित्त की कल्पना है। और जो चित्त को शान्त करने का उपाय कहा है उससे वह शान्त होता है। इसी को मुक्ति कहते हैं। और बन्धन-मुक्ति कोई नहीं। चित्त के उदय होने का नाम बन्धन है और चित्त का शान्त होना ही मुक्ति है।

हे राम ! जब मन अपने वश होता है, तब आत्मपद प्राप्त होता है। अथवा जब प्राण स्थिर होते हैं, तब आत्मपद प्राप्त होता है। यह संसार मृगतृष्णा के जल सा मिथ्या है। जब वासना निवृत्त होती है, तब आत्मपद में स्थिति होती है। जैसे मेघ जब जल-संयुक्त होते हैं, तब गर्जते हैं और वर्षा करते हैं और जब वर्षा से रहित होते हैं तब शान्त हो जाते हैं, वैसे ही जब वासना का क्षय होता है, तब चित्त शान्त हो जाता है। जैसे शरत् काल में बादल और कुहरा निवृत्त होकर शुद्ध और निर्मल आकाश ही रहता है वैसे ही वासना के निवृत्त होने से शुद्ध और केवल चैतन्य आत्मा होकर भासित होता है। जो तुम एक मुहूर्त भी चित्त बिना स्थित हो तो तुमको आत्मपद की प्राप्ति हो। जब तक चित्त की वासना क्षय नहीं होती तब तक जीव बड़े भ्रम देखता है। हे राम ! यह संसार मृगतृष्णा के जल सा असत् है और आभासमात्र फुरता है। इस पर एक आख्यान जो पहले कभी हुआ है, सो कहता हूँ, मन

लगाकर सुनो । दक्षिण दिशा में एक मन्दराचल पर्वत है । उसकी कन्दरा में महाभयानक आकार का एक वैताल रहता था और मनुष्यों को खाता था । उसके मन में विचार उपजा कि किसी नगर के जीवों का भोजन करूँ । पर वह एक समय साधु का संग भी करता था, और एक साधु को खा भी जाता था । उस साधु-संग के प्रसाद से वैताल के मन में यह आया कि मेरी कौन गति होगी ? मेरा आहार मनुष्य है और मनुष्यों को भोजन करना बड़ा हत्या है । इससे मैं एक वृत्ति बाँध लूँ कि जो मूर्ख और अज्ञानी मनुष्य हों, उनको भोजन करूँ और जो उत्तम पुरुष हैं उनको न खाऊँ ।

हे राम ! निदान वह वैताल क्षुधातुर होने पर भी भले मनुष्यों को न खाता था । इसी प्रकार एक समय वह क्षुधा से बहुत व्याकुल हो रात्रि के समय घर से बाहर निकला तो संयोगवश उस नगर के राजा से, जो वीर यात्रा को निकला था, भेंट हो गई । वैताल ने कहा, हे राजन् ! तुम मुझे भोजन मिले हो । अब मैं तुमको खाता हूँ । तुम कहाँ जाओगे ? राजा ने कहा, हे रात्रि के विचरनेवाले वैताल ! जो तू मेरे निकट अन्याय से आवेगा तो तेरा शीश हजार टुकड़े हो जायगा और तू मरेगा । वैताल ने कहा, हे राजन् ! मैं तुझसे नहीं डरता । हे अपने हत्यारे ! मैं तुझे भोजन करूँगा; तू चाहे जैसा बली हो, मैं नहीं डरता । परन्तु मेरी एक प्रतिज्ञा है कि मैं अज्ञानी को भोजन करता हूँ और ज्ञानी को नहीं मारता । जो तू ज्ञानी है तो न मारूँगा और जो अज्ञानी है तो मारूँगा, जैसे बाजपक्षी पक्षियों को मारता है । जो तू ज्ञानी है तो मेरे प्रश्नों का उत्तर दे । एक प्रश्न यह है कि जिसमें यह ब्रह्माण्ड त्रसरेणु के समान है वह सूर्य कौन है ? दूसरा प्रश्न यह है कि जिस पवन में आकाशरूपी अणु उड़ते हैं, वह पवन कौन है ? तीसरा प्रश्न यह है जिसमें केले के वृक्ष की तरह और कुछ नहीं निकलता, वह कौन वृक्ष है ? और चौथा प्रश्न यह है कि वह पुरुष कौन है, जो स्वप्न से स्वप्न और फिर उसमें और स्वप्न देखता है और एक रहता है, परिणाम को नहीं प्राप्त होता ? इन प्रश्नों का उत्तर दे ।

जो तूने मेरे प्रश्नों का उत्तर न दिया तो तुझे खा जाऊँगा।
इति श्रीयो० निर्वाणप्रकरणे वैतालप्रश्नोत्तिनामैकषष्टितमस्सर्गः॥ ६१॥

राजा बोला. हे वैताल! इन प्रश्नों का उत्तर सुन। ब्रह्माण्डरूपी एक मिर्च का बीज है और उसमें सत्पद आत्मा चैतन्यरूपी तीक्ष्णता है। एक डाल में ऐसी मिर्चें कई सहस्र लगी हुई हैं और एक वृक्ष में कई सहस्र ऐसी डालें लगी हैं। ऐसे वृक्ष एक वन में कई सहस्र हैं और ऐसे कई सहस्र वन एक शिखर पर स्थित हैं। ऐसे कई सहस्र शिखर एक पर्वत पर हैं और ऐसे कई सहस्र पर्वत एक नगर में हैं। ऐसे कई सहस्र नगर एक द्वीप में हैं और ऐसे कई सहस्र द्वीप एक भव पृथ्वी में हैं। ऐसे कई सहस्र पृथ्वीभव एक अण्ड में हैं और ऐसे कई सहस्र अण्ड एक समुद्र में लहरें लेते हैं। ऐसे कई सहस्र समुद्र एक समुद्र की लहरें हैं और ऐसे कई सहस्र समुद्र एक पुरुष के उदर में हैं। ऐसे कई पुरुषों की एक पुरुष के गले में माला पिरोई हुई है। ऐसे कई लाख-कोटि सूर्य के अणु हैं, जिस सूर्य मे सब प्रकाशमान है। वह सूर्य आत्मा है, जिसमें अनन्त सृष्टि स्थित है। हे वैताल! जैसे यह सृष्टि भासती है वैसे ही सब सृष्टियाँ जान। जो यह सृष्टि सत्य है तो सब सृष्टि सत् हैं और जो यह सृष्टि स्वप्न है तो सब सृष्टियों को स्वप्न सदृश्य जानो। आत्मा ऐसा सूर्य है, जिससे भिन्न और कोई अणु नहीं और वह सदा अपने आपमें स्थित है। अब बता और क्या पूछता है? ऐसे आत्मा में स्थित हो जो आत्मसत्तामात्रपद है; जिस सत्तामात्रपद मे कालसत्ता हुई है और उसी में आकाशसत्ता हुई है। उसी सत्पद मे सब सत्ताएँ संकल्प द्वारा उदय हुई हैं और संकल्प के लय होने पर सब लय हो जाती है।

तूने जो प्रश्न किया था कि वह कौन सूर्य है, जिससे ब्रह्माण्डरूपी त्रसरेणु होते हैं? वह ब्रह्मसूर्य है, जिससे भिन्न और कुछ नहीं। और केले का वृक्ष जो तूने पूछा था सो केले की तरह विश्व के भीतर-बाहर आत्मा स्थित है। जैसे केले के भीतर देखने मे शून्य आकाश ही निकलता है, वैसे ही विश्व के भीतर-बाहर आत्मा से भिन्न और कुछ सार

नहीं निकलता। जो अद्वैत है, उससे भिन्न द्वैत कुछ नहीं। वह पवन ब्रह्म है, जिस पवन में ब्रह्माण्ड के समूह उड़ते हैं, और वह पुरुष स्वप्न से स्वप्न और आगे और स्वप्न देखता है और एक अपने आपमें स्थित है। चित्त-कला फुरने से अनन्त ब्रह्माण्डों का भान होता है। इसी को स्वप्न कहते हैं। तो भी उससे कुछ भिन्न नहीं। एक ही रूप में वह नट की तरह रहता है और ये सब उसकी आज्ञा से अपना-अपना काम करते हैं। वह सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से स्थूल है। उसमें मन्दराचल पर्वत भी अणु है, ऐसा स्थूल है। उसमें वाणी की गति नहीं। वह अपने आप ही में स्थित है और इन्द्रियों से अगोचर है, इससे सूक्ष्म से सूक्ष्म है और पूर्णता से स्थूल से स्थूल है। हे मूर्ख वैताल! तू किसको खाता है और क्षुधा से क्यों व्याकुल हुआ है? तू तो अद्वैतरूप आत्मा और आनन्दरूप है, अपने आपमें स्थित हो। जब प्रश्न का उत्तर देकर राजा ने ऐसे उपदेश किया, तब वैताल वहाँ से चला और एकान्त स्थान में स्थित हो विचार करने लगा कि ऐसे मृगतृष्णा के जलसदृश झूठे संसार से मुझे क्या प्रयोजन है? फिर एकान्त स्थान में जाकर ध्यान लगाकर आत्मा में धारा-प्रवाह सा स्थित हुआ। धारा प्रवाह प्रवाहक इसे कहते हैं कि आत्मा का अभ्यास दृढ़ हो, आत्मा से भिन्न कुछ न फुरे और एकरस स्थित हो। ऐसे ध्यान में स्थित होकर वैताल सत आत्मपद को प्राप्त हुआ। हे राम! यह राजा और वैताल का आख्यान तुमको सुनाया। उस आत्मा में ब्रह्माण्ड अणु की नाईं स्थित है, इससे निर्विकल्प आत्मा में स्थित हो और इन्द्रियों को बाहर से समेटकर स्थित करो।

इति श्रीयो० नि० राजावै० वैतालब्रह्मपदप्राप्तिर्नाम द्विषष्टितमस्सर्गः ६२

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! मैं एक और आख्यान कहता हूँ, उसे सुनो। उससे भगीरथ राजा की मूढ़ता गई; वह स्वस्थचित्त होकर आत्मपद में स्थित हुआ; अपने आपतितप्रवाह (जो सुख-दुःख आ) पड़े, उसे निर्लिप्त होकर भोगना आपतितप्रवाह का अर्थ है।) में विचरा और पुरुषार्थ से स्वर्गलोक से गङ्गा को पृथ्वी पर ले आया। तुम

भी वैसे ही विचरो। भगीरथ के पास जो कोई याचक आता था, उसका प्रयोजन वह पूर्ण करता था। जिस पदार्थ को माँगने का संकल्प करके कोई आता तो राजा उसको पूर्ण करता था। जैसे चन्द्रमा को देखकर चन्द्रमणि अमृत पर्साजती है वैसे ही स्वभाव का दयार्द्र वह राजा था। जो उस राजा से शत्रुभाव रखते थे, उनका वह ऐसे नाश करता था, जैसे सूर्य के उदय होने पर अन्धकार का नाश हो जाता है। जैसे अग्नि से अनेक चिनगारियाँ उठती हैं, वैसे ही वह शत्रुओं पर शस्त्रों की वर्षा करता था। आपतित प्रवाह में स्थिर रहता था—अर्थात् भले-बुरे और सुख दुःख में एक समान रहता था। राम ने पूछा, हे भगवन्! राजा भगीरथ के मन में क्या आई, जो गंगा को ले आये? वशिष्ठजी बोले, हे राम! एक समय उसने अपने नगर को देखा कि लोग भले मार्ग को त्यागकर बुरे मार्ग और पापकर्म में लगे हैं और मूर्ख हो रहे हैं। तब लोगों के उपकार के निमित्त उसने तप करके ब्रह्मा, रुद्र और यज्ञ ऋषि का आराधन किया और गंगा के लाने के निमित्त मन्त्र जपने लगा। गंगा का एक प्रवाह स्वर्ग में और एक पाताल में है; राजा भगीरथ ने एक प्रवाह मर्त्यलोक में भी चलाया है। उसने गंगा को लाकर समुद्र का भी उपकार किया। समुद्र को अगस्त्य मुनि ने सुखाया था, गंगा के आने से उस समुद्र का दरिद्र (जल की कमी) भी निवृत्त हुआ। उसके मन में एक विचार आया। संसार को देखकर वह कहने लगा कि एक ही काम बारम्बार करना बड़ी मूर्खता है। मनुष्य नित वही भोगते, वही खाते और फिर वही कार्य करते हैं। जिस कर्म के करने से पीछे सुख मिले, उसके करने में कुछ दोष नहीं; ऐसे वैराग्य से उसने विचार किया कि संसार क्या है? उस समय में राजा युवा था। जैसे मरुस्थल में कमल उपजना आश्चर्य है, वैसे ही यौवन अवस्था में ऐसा विचार उपजना आश्चर्य है।

हे राम! जब राजा के मन में ऐसा विचार उपजा, तब वह घर से निकलकर अपने गुरु त्रितल ऋषीश्वर के निकट पहुँचा और उनसे प्रश्न किया कि हे भगवन्! वह कौन सुख है, जिसके पाने से जरा और

मृत्यु के दुःख निवृत्त होते हैं ? ये संसार के सुख तो भीतर से खोखले हैं: इनके परिणाम में दुःख है। त्रिलत्त ऋषि बोले. हे राजन् ! एक ही ज्ञेय अर्थात् जानने योग्य है. जिसके जानने से शान्तपद प्राप्त होता है। वह ज्ञेय आत्मज्ञान है। यह आत्मा न उदय होता है: न अस्त होता है: ज्यों का त्यों अपने आपमें है। हे राजन् ! यह जगत् और मृत्यु तभी तक है. जब तक अज्ञान है: जब ज्ञानरूपी सूर्य उदय होगा तब अज्ञानरूपी अन्धकार निवृत्त हो जायगा और जीव केवल शान्तपद में स्थित होगा। आत्मानन्द सर्वज्ञ है। उसके जानने से चित्तजड़ग्रन्थि टूट जाती है. अर्थात् अनात्म देह-इन्द्रियादिक में आत्मा का अभिमान करना निवृत्त हो जाता है। सब कर्म भी निवृत्त होते और सब संशय नष्ट हो जाते हैं। ऐसे शुद्ध स्वरूप को पाकर ज्ञानी उसी में स्थित होते हैं. जो सत्ता सर्वव्यापी. सर्वगत. नित्य स्थित और उदय-अस्त से रहित है। राजा बोले. हे भगवन् ! मैं जानता हूँ कि आत्मा चिन्मात्र सत्ता है और देहादिक मिथ्या है। आत्मा सर्वज्ञ. शान्त और अच्युतरूप है. यह जानता हूँ। परन्तु मुझे शान्ति नहीं मिली. क्योंकि आत्मा चिन्मात्र मुझे नहीं भासता और स्वरूप में स्थिति भी नहीं हुई। इसलिए कृपा करके उपदेश करिये कि मैं स्थित होऊँ।

ऋषि बोले. हे राजन् ! तुमसे मैं एक ज्ञान कहता हूँ. जिसके जानने से फिर कोई दुःख न रहेगा और उसमें ज्ञेय में तुमको निष्ठा होगी। तब तुम सर्वात्मारूप हो स्थित होगे और तुम्हारा जीवभाव नष्ट हो जायेगा। देह और इन्द्रियों में आत्म अभिमान न करके पुत्र. स्त्री और कुटुम्ब के दुःख से अपने को दुखी न जानना: नित्य समचित्त रहकर इष्ट-अनिष्ट की प्राप्ति में एकरस रहना: चित्त को आत्मपद में लगाकर वृत्ति को और न जाने देना. एकान्तदेश में स्थित होना और अज्ञानी का संग न करके ब्रह्मविद्या का सदा विचार करना: ये ज्ञानी के लक्षण तत्त्वज्ञान के दर्शन के निमित्त तुमसे कहे हैं—इससे विपरीत अज्ञान है। हे राजन् ! यह ज्ञेय जानने योग्य है: इसके जानने से केवल शान्तपद को प्राप्त होगे और देह का अहंकार भी निवृत्त होगा। हे राजन् ! पहले

अहं होता है और फिर मम होता है; इससे तुम अहं-मम भाव का त्याग करो। जब अहं-मम का त्याग करोगे, तब अहं प्रत्यय से आत्मपद भासित होगा। वह आत्मा सर्वज्ञ है; सब कुछ आप है; स्वतःप्रकाश और आनन्दरूप है, पर सांसारिक विषय-भोग के सुख-दुःख से रहित है।

जब ऐसे गुरुजी ने कहा, तब राजा बोला, हे भगवन्! यह अहंकार तो चिरकाल से देह में रहता है और अभिमानी है। उसका क्योंकर त्याग करूँ? ऋषि बोले, हे राजन्! अहंकार पुरुष के प्रयत्न से निवृत्त होता है। पहले भोगों में द्वेष-दृष्टि करना; फिर भोगों की वासना न करना; बारम्बार अपने स्वरूप की भावना करना और विचार करना। इससे तुम्हारा जीवत्व (अहंकार) निवृत्त हो जायगा। हे राजन्! जब तुम्हारा अहंकार निवृत्त होगा, तब तुमको सर्वत्र आत्मा ही भासित होगा और दुःख से रहित शान्तरूप का प्रकाश होगा। हे राजन्! यह लज्जा अर्थात् संग या आसक्तिरूप फाँसी जब तक नहीं कटती, तब तक आत्मपद की प्राप्ति नहीं होती। अहं, मम, तृष्णा, शोक, दुःख और भला कहाने की इच्छा इत्यादि जो मोह के स्थान हैं, उन्हें लज्जा कहते हैं। इससे तुम अहं-मम से रहित बनो। तुम्हारे शत्रु जो राज्य लेने की इच्छा करते हैं, उनको अपना राज्य दे दो और क्षोभ से रहित होकर पुत्र, स्त्री और बान्धवों के मोह से रहित बनो। अपने शरीर में जो मोह है उससे भी रहित होकर राज्य का त्याग करके एकान्तदेश में स्थित हो और उन शत्रुओं के घर में भिक्षा माँगो, जिसमें तुम्हें श्रेष्ठ या भला कहलाने की इच्छा न रहे। अब उठो और जाओ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे भगीरथोपदेशो नाम त्रिषष्टितमस्सर्गः ॥ ६३ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे राम! जब इस प्रकार त्रितल ऋषीश्वर ने उपदेश किया, तब राजा उठ खड़ा हुआ और घर को गया। गुरु का उपदेश हृदय में रखकर, अपने राज्य में रहकर राज्य करने लगा और मन में तत्त्व-विचार भी करता रहा। जब कुछ काल बीता, तब राजा ने अग्निष्टोम यज्ञ का आरम्भ किया। धन का त्याग करने को अग्निष्टोम

यज्ञ कहते हैं। तीन दिन में धन का त्यागकर हाथी, घोड़े, रथ, भूषण, वस्त्र इत्यादिक जो ऐश्वर्य था सो लोगों को दे दिया। ब्राह्मण, अर्थी, पुत्र, स्त्री और शत्रुओं को जब पृथ्वी का राज्य दे दिया तो शत्रुओं ने जाना कि अब राजा भगीरथ में कुछ पराक्रम नहीं रहा। तब उन्होंने आकर उनका देश घेर लिया, हवेली पर चढ़ आये और राजा के सब स्थान रोक लिये। राजा के पास केवल धोती-अँगोछा रह गया। तब राजा वहाँ से निकलकर वनों में विचरने लगा और शान्तपद आत्मा में स्थित हुआ।

जब कुछ काल बीता तो भगीरथ फिर अपने देश में आया और अपने शत्रुओं के घर में भिक्षा माँगने लगा। तब शत्रुओं और दूसरे लोगों ने उसकी बहुत पूजा की और कहा, हे भगवन्! तुम अपना राज्य लो। पर उसने राज्य न लिया। जैसे पृथ्वी पर पड़े तृण को तुच्छ समझकर कोई नहीं ग्रहण करता वैसे ही उसने राज्य नहीं ग्रहण किया। कुछ काल वहाँ रहकर त्रिलल ऋषि के पास, जो उसका गुरु था, इच्छा-रहित होकर गया। गुरु ने आत्मदृष्टि से उसे ग्रहण किया। शिष्य ने भी गुरु को आत्मदृष्टि से ग्रहण किया। गुरु और शिष्य की भावना से रहित हो वे दोनों कुछ काल तक एक स्थान में रहे और फिर वन में इकट्ठे विचरने लगे। वे शान्त और आत्मपद में स्थित रहकर राग-द्वेष से रहित केवल एकरस स्थित रहे। उनको न देह त्यागने की इच्छा थी, न देह रखने की। केवल स्वयं प्राप्त अनिच्छित प्रारब्ध में स्थित रहते थे। इतने में स्वर्गलोक के सिद्धों ने आकर उनकी पूजा की और बड़े ऐश्वर्य के पदार्थ चढ़ाये। बहुत सी अप्सराएँ आईं और जितने ऐश्वर्य के भोग पदार्थ थे, वे आये। पर उनको उन्होंने तुच्छ जाना; क्योंकि वे आत्मसुख से तृप्त और केवल आकाश-सदृश निर्मल शुद्ध थे अर्थात् प्रकाशरूप, समचित्, कलङ्कतारूपी मल से रहित थे। हे राम! जैसे राजा भगीरथ स्थित हुए हैं, वैसे ही तुम भी स्थित हो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे निर्वाणवर्णनन्नाम
चतुःषष्टितमस्सर्गः ॥ ६४ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जब कुछ काल बीता तो भगीरथ वहाँ से चला और एक देश में पहुँचा, जहाँ का राजा मर गया था और उसकी राजलक्ष्मी राजा को चाहती थी। राजा भगीरथ भिक्षा माँगता फिरता वहाँ पहुँचा। उस राजा के मन्त्री ने भगीरथ को देखा कि जो कुछ गुण और लक्षण राजा में होने चाहिए, वे इसमें हैं। इसलिए वह राजा भगीरथ से बोला, हे भगवन् ! आप इस राज्य को अङ्गीकार कीजिये; क्योंकि आपको यह बिना चाहे प्राप्त हुआ है। निदान राजा ने उस राज्य को ग्रहण किया और उसे न भला जाना, न बुरा। फिर राजा हाथी पर सवार हो सेना सहित सुशोभित हुआ। देश और सब स्थान सेना से पूर्ण हुए। जैसे मेघ से सरोवर पूर्ण होते हैं, वैसे ही वह देश और स्थान सेना से पूर्ण हो गये। नगाड़े और साज बजने लगे। तब राजा राजभवन में गया और महल की सब स्त्रियाँ आईं। इतने में जहाँ का राज्य भगीरथ ने पहले किया था, उस देश से मन्त्री और प्रजा जन आये। उन्होंने भगीरथ से कहा, हे भगवन् ! जिन शत्रुओं को तुमने राज्य दिया था, उनको मृत्यु ने भोजन कर लिया है। जैसे मछली मल मांस को खा लेती है, वैसे ही उनको मृत्यु ने भोजन कर लिया है। इससे अब चलकर तुम राज्य करो। यद्यपि इच्छा तुमको नहीं है, पर तो भी राज्य करो, क्योंकि जो वस्तु अनिच्छित प्राप्त हो उसका त्याग करना श्रेष्ठ नहीं।

इतना सुन राजा ने उस राज्य को भी अङ्गीकार किया और राज्य करने लगा। फिर राजा ने पिछला वृत्तान्त स्मरण कर कि मेरे पितर कपिल मुनि के शाप से भस्म हो कूप में पड़े हैं, यह विचार किया कि मैं उनका उद्धार करूँ; इसलिए अपने मन्त्री को राज्य देकर वह अकेला वन को चला और इच्छा की कि तप करूँ। निदान एक स्थान में स्थित होकर तप करने लगा। गङ्गा को पृथ्वी पर लाने के निमित्त उसने ब्रह्मा, रुद्र और जगत् ऋषि का सहस्र वर्ष पर्यन्त आराधन किया। तब गङ्गा, जो विष्णु भगवान् के चरणों से प्रकट हुई हैं, मध्य मण्डल में आईं। जब राजा पितरों के उद्धार के निमित्त गङ्गा के

प्रवाह को ले आया, तब फिर समुचित और शान्तपद में स्थित होकर विचरने लगा। उसमें क्षोभ, भय और इच्छा न थी। वह केवल शान्त आत्मपद में स्थित हुआ। जैसे पवन से रहित समुद्र स्थिर होता है, वैसे ही संकल्प-विकल्प से रहित होकर वह राजा स्थिर हुआ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे भगीरथोपाख्यानसमाप्तिर्नाम पञ्चषष्टितमस्सर्गः॥ ६५ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे राम! यह जो भगीरथ की दृष्टि तुमसे कही है उसका आश्रय करके विचरो। यह दृष्टि सब दुःखों का नाश करती है। एक और ऐसा ही प्राचीन आख्यान है। ऐसे ही एक शिखरध्वज राजा हुआ था। इतना सुन राम ने पूछा, हे भगवन्! वह शिखरध्वज कौन था और उसका आचरण कैसा था, सो कृपा करके कहिये? वशिष्ठजी बोले, हे राम! सात मन्वन्तरों के बीतने के उपरान्त द्वापर-युग की चौथी चौकड़ी में राजा शिखरध्वज हुआ है और आगे फिर भी होगा। वह राजा सम्पूर्ण पृथ्वी का तिलक, महाशूरवीर और सम्पूर्ण ऐश्वर्य से सम्पन्न था, परन्तु उसमें बँधा हुआ या लिप्त न था। वह बड़े भोग भोगता था; बड़े ओज से सम्पन्न, उदार और धैर्यवान् था। किसी के साथ अन्याय न करता था। समचित्त, शान्तपद में स्थित और सम्पूर्ण दुःखों से रहित था। याचक की सब प्रार्थना पूर्ण करता था। राम ने पूछा, हे भगवन्! ऐसा ज्ञानवान् राजा फिर क्यों जन्म पावेगा? ज्ञानी तो फिर जन्म नहीं पाता? वशिष्ठजी बोले, हे राम! जैसे एक समुद्र में कई समान तरङ्ग उठते हैं, कई अर्द्धसम और कई विलक्षण भाव से उठते हैं, वैसे ही आत्मसमुद्र में कई आकार एक से, कई अर्द्ध और कई विलक्षण भाव से उठते हैं, जो समान होते हैं, उनकी चेष्टा और आकार एक से दृष्टि आते हैं। इसी प्रकार शिखरध्वज की ऐसी ही उत्पत्ति होगी।

हे राम! जब इस सर्ग में सात मन्वन्तर और चार चौकड़ी द्वापर युग की बीत जायँगी, तब जम्बूद्वीप के मालव देश में एक श्रीमान् शिखरध्वज राजा होगा। परन्तु वह आगे होनेवाला उस सा शिखर

ध्वज दूसरा होगा, वह न होगा। प्रथम शिखरध्वज जब पोड़श वर्ष का राजकुमार था, तब एक समय शिकार को निकला। वसन्त ऋतु का समय था, राजा अपने बाग में जा ठहरा, जहाँ फूलों के विचित्र कुंजभवन बने हुए थे। कमलिनियाँ मानों स्त्रियाँ और धूलि के कण उनके भूषण थे। उनके समीप पुष्पवृक्ष लगे थे। इसी प्रकार भँवरी और भँवरों की सुन्दर लीला देख राजा को विचार उपजा कि मुझे स्त्री प्राप्त हो तो मैं भी केलि करूँ। निदान उसे अधिक चिन्तना हुई कि कब मुझे स्त्री मिलेगी और कब उसके साथ फूल की शय्या पर शयन करूँगा। जब राजा इस प्रकार भोग का चिन्तन करने लगा, तब मन्त्रियों ने, जो त्रिकाल ज्ञान रखते थे और राजा के शरीर की अवस्था जानते थे, जाना कि हमारे राजा का मन स्त्री पर है, इससे अब राजा का विवाह करना चाहिए निदान एक राजा की कन्या जो बहुत सुन्दरी थी और वर चाहती थी, उससे राजा शिखरध्वज का विवाह शास्त्र की विधि से किया गया और राजा बहुत प्रसन्न होकर अपने घर आया।

उस स्त्री का नाम चुड़ाला था। वह बहुत सुन्दरी थी। उससे राजा की बहुत प्रीति हुई और उस स्त्री का भी राजा से बहुत स्नेह हुआ। जो कुछ राजा मन में चाहता, वह रानी पहिले ही पूरा कर देती थी। उनकी परस्पर प्रीति ऐसी बढ़ी, जैसे भँवरे और भँवरी में होती है। एक समय राजा मन्त्रियों को राज्य का भार सौंपकर वन को गया और वहाँ नाना प्रकार की क्रीड़ाएँ करते हुए दोनों ऐसे विचरते रहे, जैसे सदाशिव और पार्वती या विष्णु और लक्ष्मी विचरें। इसके पश्चात् राजा योगकला सीखने लगे। इधर रानी राजा को भोगकला सिखाती थी। इसी प्रकार वे दोनों सम्पूर्ण कलाओं में पारंगत हुए। चुड़ाला की बुद्धि राजा की बुद्धि से तीक्ष्ण थी। वह शीघ्र ही सब बातें जान लेती और राजा को सिखाती थी।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे शिखरध्वज चुड़ालोपाख्यानं नाम षट्षष्टितमस्सर्गः ॥ ६६ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! इसी प्रकार जब राजा और रानी ने अनंत भोग भोगे तो जैसे कुम्भ में छिद्र होने से शनैः शनैः जल निकलता है, वैसे ही शनैः शनैः उनके यौवन के दिन निकल गये। जब वृद्धावस्था आई, तब राजा और रानी को वैराग्य उत्पन्न हुआ। वैराग्य से वे यह विचारने लगे कि यह संसार मिथ्या और विनाशी है, एक सा नहीं रहता और ये भोग भी मिथ्या हैं। इतने काल तक हम इन्हें भोगते रहे, पर तृष्णा पूर्ण न हुई—बढ़ती ही गई। हे राम ! इस प्रकार राजा और रानी वैराग्य से विचारते रहे कि ये भोग मिथ्या हैं और हमारी यौवन अवस्था भी व्यतीत हो गई है। जैसे बिजली का चमत्कार क्षणमात्र होकर बीत जाता है, वैसे ही उनकी यौवन अवस्था व्यतीत हो गई और मृत्यु निकट आई है। जैसे नदी का वेग नीचे चला जाता है, वैसे ही आयु व्यतीत हो जाती है और जैसे हाथ पर जल डालने से बह जाता है, वैसे ही यौवन अवस्था निवृत्त हो जाती है। जैसे जल में तरङ्ग और बुलबुले उपजकर लीन हो जाते हैं, वैसे ही यह शरीर क्षणभंगुर है। जहाँ चित्त जाता है, वहाँ दुःख भी इसके साथ जाते हैं—निवृत्त नहीं होते। जैसे मांस के टुकड़े के पीछे चील दौड़ती है, वैसे ही जहाँ अज्ञान है, वहीं दुःख भी पीछे जाते हैं। यह शरीर भी नष्ट हो जायगा। जैसे पका हुआ आम का फल वृक्ष के साथ नहीं रहता, गिर पड़ता है, तैसे ही शरीर भी नष्ट हो जाता है। जो शरीर अवश्य गिरता है उसका क्या आसरा करना है। जैसे सूखा पत्ता वृक्ष से गिर पड़ता है, वैसे ही यह शरीर गिर पड़ता है। इससे हम ऐसा कुछ करें कि संसाररूपी रोग निवृत्त हो। यह संसाररूपीरोग ब्रह्मविद्या की औषध से निवृत्त होता है; ब्रह्मविद्या से ज्ञान उपजता है और आत्मज्ञान से सब दुःख निवृत्त हो जाते हैं। इसके सिवा और कोई उपाय नहीं। इसलिए आत्मज्ञान के निमित्त हम सन्तों के पास जायँ।

ऐसे विचार करके राजा और चुड़ाला आत्मज्ञानियों के पास चले। वे आत्मज्ञान की बातें करते थे और आत्मज्ञान में ही चित्तभावना कर

आपस में उसी का विचार और चर्चा करते थे। निदान वे ऐसे सन्तों के पास पहुँचे, जो संसारसमुद्र से तारनेवाले और आत्मज्ञानी थे उनकी पूजा करके उन्होंने उनसे प्रश्न किया। राजा और रानी उनसे ब्रह्म-विद्या सुनने लगे कि आत्मा शुद्ध, आनन्दरूप, चैतन्य और एक है, जिसके पाने से दुःख निवृत्त हो जाते हैं। हे राम! तब रानी चुड़ाला तत्त्व विचार में लग गई। वह राजा की कोई सेवा टहल करती तब भी उसके चित्त की वृत्ति विचार ही में रहती थी। वह यह विचारती कि मैं क्या हूँ? यह संसार क्या है और संसार की उत्पत्ति किससे है? ऐसे विचार कर वह जानने लगी कि यह शरीर पञ्चतत्त्व का है अतएव मैं शरीर नहीं हूँ, शरीर जड़ है और कर्म इन्द्रियाँ भी जड़ हैं। जैसे शरीर है, वैसे ही शरीर के अङ्ग भी हैं। ये चेष्टा ज्ञान-इन्द्रियों से करते हैं। ज्ञान-इन्द्रियाँ भी मैं नहीं, क्योंकि ये भी जड़ हैं, स्वयं कुछ नहीं कर सकतीं। मन से इन्द्रियों की चेष्टा होती है, सो मन भी जड़ है; इसमें संकल्प-विकल्प बुद्धि से होता है। बुद्धि भी जड़ है; क्योंकि उसमें निश्चय की चेतना अहंकार से होती है। और अहंकार भी जड़ है, क्योंकि उसमें अहं चेतना से होती है। वह चेतनता जीव से होती है। वह जीव भी मैं नहीं हूँ, क्योंकि जीवत्व स्फुरणरूप है और मेरा स्वरूप वासनाहीन, सदा उदय रूप और सन्मात्र है। मेरा बड़ा सौभाग्य है और कल्याण होनेवाला है, इसी से चिरकाल के उपरान्त मैंने अपना स्वरूप पाया है, जो अविनाशी, अनन्त और आत्मा है। जैसे शरत् काल का आकाश निर्मल होता है, वैसे ही मैं निर्मल विगतज्वर, राग-द्वेषरूपी ताप रहित, चिन्मात्र और अहं-त्वं से रहित हूँ। मुझमें कोई वासना नहीं; इसी से शान्तरूप हूँ। जैसे क्षीरसमुद्र मन्दराचल के हटने से शान्तरूप है, वैसे ही मैं चित्त से रहित, निश्चल और अद्वैत हूँ। कभी मेरा स्वरूप परिणाम या विकार को नहीं प्राप्त होता। ऐसा जो चिन्मात्रपद है, उसको ब्रह्म-ज्ञानियों ने ब्रह्म, परमात्मा और चैतन्य संज्ञा दी है। यह आत्मा ही मन, बुद्धि आदिक दृश्य और संसाररूप होकर फैला है। यह स्वरूप से अच्युत है। चित्त के चेतने से इसमें नाना

आकार भासित होते हैं. पर वे सब रूप आत्मा से भिन्न नहीं हैं। जैसे बड़े पर्वत के जो पत्थर और बट्टे होते हैं, वे पर्वत से भिन्न नहीं होते, वैसे ही यह दृश्य आत्मा से भिन्न नहीं है। ये आकार ऐसे हैं जैसे गन्धर्वनगर नाना आकार का हो भासित होता है, पर ज्ञानवान् को एकरस है और अज्ञानी को भेद-भावना है। जैसे बालक मृत्तिका के खिलौने हाथी, घोड़ा, राजा, प्रजा आदि बनाता है, और जिसको मृत्तिका का ज्ञान है उसको मृत्तिका ही वे सब भासित होते हैं, भिन्न-कुछ नहीं प्रतीत होता, वैसे ही अज्ञान से नानारूप भासित होते हैं। अब मैंने जाना है कि मैं एकरस हूँ।

हे राम ! इस प्रकार चुड़ाला अपने को जानने लगी कि मैं सन्मात्र, अच्छेद्य, अदाह्य, स्वच्छ, अक्षर और निर्मल हूँ। मुझमें 'अहं' 'त्वं' 'एक' और 'द्वैत' शब्द कोई नहीं, और जन्म, मरण भी नहीं, यह संसार चित्त से भासित होता है, वास्तव में आत्मस्वरूप है। देवता, यक्ष, राक्षस, स्थावर, जङ्गम आदि सब आत्मरूप हैं। जैसे तरङ्ग और बुलबुले समुद्र से भिन्न नहीं, वैसे ही आत्मा से कोई वस्तु भिन्न नहीं। दृश्य, द्रष्टा, दर्शन ये भी आत्मा की सत्ता से चेतन हैं; इसकी अपने आपसे सत्ता नहीं है। मुझमें अहं का उत्थान कदापि नहीं होगा, क्योंकि मैं अपने आपमें स्थित हूँ। अब इसी पद का आश्रय करके चिरकाल इस संसार में विचरूँगी।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे चुड़ालाप्रबोधो नाम
सप्तषष्टितमस्सर्गः ॥ ६७ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे राम ! फिर चुड़ाला, जिसकी तृष्णा निवृत्त हो गई थी और जो दुःख, भय और भोगवासना से निवृत्त होकर केवल शान्तपद को पाकर शोभित हुई थी, पाने योग्य पद पाकर जानने लगी कि इतने काल तक मैं अपने स्वरूप से गिरी थी; अब मुझे शान्ति मिली है और सब दुःख मिट गये हैं। अब मुझे कुछ ग्रहण और त्याग नहीं करना है अब मैं अपने आत्मस्वभाव में स्थित हुई हूँ निदान एकान्त में बैठ उसने समाधि लगाई जैसे वृद्ध गऊ पर्वत की कन्दरा पाकर तृण

और घास से बहुत प्रसन्न होती है वैसे ही अपने आनन्दरूप को पाकर चुड़ाला उसी में अवस्थित हुई। हे राम! वह ऐसे आनन्द को प्राप्त हुई, जिसको वाणी से नहीं कह सकते। तब रानी को देखकर राजा शिखरध्वज को बड़ा आश्चर्य हुआ। वह बोला—हे अङ्गने! अब तुम फिर यौवन अवस्था को प्राप्त हुई हो और तुमको कोई बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ है। शायद तुमने अमृत का सार पान किया है, इससे अमर हुई हो। या किसी योगीश्वर से तुमने इस कला को प्राप्त किया है; अथवा त्रिलोकी का ऐश्वर्य तुम्हें प्राप्त हुआ है। क्या बात है? हे अङ्गने! तुम्हें कौन वस्तु मिली है? तुम्हारे चित्त की वृत्ति से ऐसा जान पड़ता है कि तुमने अमृत का सार पान किया है व त्रिलोकी के राज्य से भी कोई अधिक पदार्थ पाया है। तुम तो किसी ऐसे बड़े आनन्द को प्राप्त हुई हो, जिसका आदि-अन्त नहीं है। अब तुममें भोगवासना भी नहीं दीखती, शान्तरूप हो गई हो। जैसे शरत्काल का आकाश निर्मल होता है, वैसे ही तुममें निर्मलता दीखती है। और तुम्हारे श्वेत केश भी बड़े सुन्दर लगते हैं। इसलिए बताओ, तुम्हें कौन सी वस्तु हुई है।

चुड़ाला बोली, हे राजन्! यह जो कुछ दीखता है सो किंचन है। इससे रहित जो निष्किंचनपद है, उसको पाकर मैं श्रीमान् हुई हूँ। जिसका आकार निष्किंचन है और जिसमें दूसरे का अभाव है उसी को पाकर मैं श्रीमान् हुई हूँ। और जो कुछ भोग हैं, उनसे रहित होकर अभोग भोग भोगकर उस भोग से तृप्त हुई हूँ। अर्थात् मैंने आत्मज्ञान और आत्मा में विश्राम पाया है, जिससे सदा शान्तरूप और श्रीमान् हूँ। हे राजन्! जितने ये राजभोग्य सुख हैं, उनको त्यागकर मैं परम-सुख को भोगती हूँ और राग द्वेष से रहित होकर मैं ऐसी बनी हूँ कि 'अस्त' भी हूँ और 'नास्ति' भी हूँ। जो कुछ नेत्रों से दिखता है, इन्द्रियों से जाना जाता है और मन से चिन्तन होता है, वह सब स्वप्न सा मिथ्या है। मैं वहाँ स्थित हुई हूँ, जहाँ इन्द्रिय और मन की गति नहीं और अहंकार का उत्थान नहीं, उस पद को मैंने पाया है, जो सबका

आधार, सबका आत्मा और सर्व अमृत है, उसका सार अमृत मैंने पान किया है। इससे मेरा कदापि नाश नहीं और कदापि मुझे कोई भय भी नहीं है। हे राम ! जब इस प्रकार रानी ने कहा तो राजा शिखरध्वज उसके वचन न समझा और हँसकर बोला, हे मूर्ख स्त्री ! यह तू क्या कहती है ? प्रत्यक्ष वस्तु को झूठ बताती है और कहती है कि मैं नहीं देखती। और असत वस्तु, जो नहीं दीखती, उसको सत्य कहती है और कहती है कि मैं दीखती हूँ। ये वचन तेरे कौन मानेगा ? इन वचनोंवाला शोभा नहीं पाता। तू जो कहती है कि मैं ऐश्वर्य को त्यागकर श्रीमान् हुई हूँ, सो निष्किञ्चन को पाकर इन वचनोंवाला शोभा नहीं पाता। तू कभी कहती है कि इन भोगों को मैंने त्याग दिया है और इनसे रहित जो अभोग हैं, उनको भोगती हूँ, कभी कहती है कि मैं कुछ नहीं; फिर कहती है, मैं ईश्वर हूँ; इससे महामूर्खा देख पड़ती है। जो इसी में तेरा चित्त प्रसन्न है, तो ऐसे ही विचर; परन्तु यह बात सुनकर इसे कोई सत्य न मानेगा और तुझे यह शोभा भी नहीं देता।

हे राम ! ऐसे कहकर राजा उठ खड़ा हुआ और मध्याह्न का समय हो जाने से स्नान के निमित्त गया। रानी के मन में बहुत शोक हुआ। उसने विचार किया कि यह बड़े कष्ट की बात है, जो राजा ने आत्मपद में स्थित न पाई और मेरे वचनों को न जाना। यही मन में सोचकर वह अपने आचार में लगी और फिर अपना निश्चय राजा को न बताया। जैसे अज्ञान-काल में चेष्टा करती थी, वैसे ही अब ज्ञान पाकर भी करने लगी। एक समय रानी के मन में आया कि प्राणों को ऊपर चढ़ाऊँ और ऊर्ध्व को त्यागकर उदान और अपान को वश करूँ, जिससे आकाश और पाताल दोनों स्थानों में जाऊँ। ऐसे सोचकर रानी योग में स्थित हुई और प्राणायाम करने लगी। इतना सुनकर राम ने पूछा, हे भगवन् ! यह संसार संकल्प से उत्पन्न हुआ है। स्थावर-जङ्गमरूप संसार वृक्ष है और संकल्प इसका बीज। वह कौन प्राणायाम पवन है, जिससे आकाश को उड़ते हैं और फिर नीचे आते हैं ? अज्ञानी पुरुष भी उसे यत्न करके कैसे सिद्ध करते हैं और ज्ञानवान्

कैसे लीला करके विचरते हैं ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! तीन प्रकार की सिद्धि होती हैं–एक तो उपादेय सिद्धि है कि यह वस्तु मुझे मिले। इसके निमित्त अज्ञानी यत्न करते हैं। दूसरी सिद्धि यह है कि यह दुःख मेरा निवृत्त हो और मैं सुखी हो जाऊँ। यह चिन्ता महा अज्ञानी की रहती है और तीसरी सिद्धि यह है कि जो मैं कर्म करता हूँ, उसका फल मुझे मिले। यह विचार करनेवाला भी अज्ञानी है; क्योंकि वह अपने को कर्त्ता मानता है। ज्ञानवान् इनको नाँघकर वरतता है। वह अगर कभी इनमें वरतता भी है, तो उसको यह निश्चय रहता है कि न मैं कर्ता हूँ, न भोक्ता हूँ। योग करके लोग इस प्रकार सिद्ध होते हैं कि देश, काल, वस्तु और क्रिया उनके अधीन हो जाती हैं। मुख में गुटका रखके जहाँ चाहे उसी स्थान में पहुँच जाना, नेत्रों में अञ्जन डाल के जिसको देखा चाहे उसको देख लेना और खड्ग हाथ में धारण करके संपूर्ण पृथ्वी का वश कर लेना–यह क्रिया पदार्थ है। और देश यह है कि जो सब पर्वत हैं, उनमें कितने ही पीठ हैं, जो बड़े उत्तम हैं।

जिस प्रकार ये सिद्ध होते हैं सो भी सुनो। नाभि के तले आधार-चक्र में एक कुण्डलिनी शक्ति है। सर्पिणी की नाईं उसमें कुण्डल है और वह कुण्डल मार बैठी है। वासना ही उसका विष है। जितनी नाड़ी हैं, उन सबकी यह समष्टि है। उस कुण्डलिनी में जब मनन होता है, तब मन प्रकट होता है। जब निश्चय होता है तब बुद्धि प्रकट होती है। जब अहंभाव होता है, तब अहंकार प्रकट होता है। जब स्मरण होता है, तब चित्त प्रकट होता है और जब उसमें स्पर्श की इच्छा होती है तब पवन प्रकट होता है। इसी प्रकार पञ्चतन्मात्राएँ और चारों अन्तःकरण प्रकट होते हैं। जितनी नाड़ी हैं, वे सब कुण्डलिनी से प्रकट होती हैं और आत्मा का प्रकट होना भी उससे जाना जाता है।

राम ने पूछा, हे भगवन् ! उससे आत्मा का प्रकट होना कैसे जाना जाता है ? आत्मा तो देश, काल और वस्तु के परिच्छेद से रहित है और सब देश, सब काल और सब वस्तुओं से पूर्ण है। वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जैसे सूर्य का प्रतिबिम्ब जल में और धूप में सब जगह दीखता

है. वैसे ही ब्रह्मसत्ता सर्वत्र समान है और प्रकट सात्त्विकगुण में दीखती है। जो कुछ नाड़ियाँ और इन्द्रियाँ हैं, वे कुण्डलिनी शक्ति से उदय होती हैं। जब यह जीव कुण्डलिनी शक्ति में स्थित होकर पवन को स्थिर करता है, तब जो कुछ भीतर प्राणवायु हैं, वे सब इसके वश होते हैं। जैसे सब सेना राजा के वश होती है, उसी प्रकार सब इन्द्रियाँ प्राण के वश होती हैं। जो प्राणवायु वश नहीं होता तो आधि-व्याधि रोग उपजते हैं।

राम ने पूछा, हे भगवन्! आधि-व्याधि कैसे होती है, सो कहिये? वशिष्ठजी बोले, हे राम! मन की पीड़ा का नाम आधि है और देह के दुःख को व्याधि कहते हैं। आधि तब होती है, जब संकल्प होता है कि यह वस्तु मुझे मिले। पर यदि वह वस्तु नहीं प्राप्त होती, तब चिन्ता करके मनुष्य दुःख पाता है। और व्याधि तब होती है, जब वात, पित्त, कफ का विकार शरीर में होता है और उससे मनुष्य दुःख पाता है। जब मन और शरीर का दुःख इकट्ठा होता है, तब आधि, व्याधि, दुःख इकट्ठे होते हैं; और जब भिन्न-भिन्न होते हैं, तब दुःख भी भिन्न-भिन्न होते हैं। ज्ञानवान् को न आधि होती है, न व्याधि। यह योग की कला मैंने विस्तार से नहीं कही; क्योंकि पूर्व के ज्ञानक्रम का प्रसंग रह जायगा। जितनी कला है, उन सबको मैं जानता हूँ; परन्तु यह कला ज्ञान-मार्ग को रोकनेवाली है। वासना चार प्रकार की है, सो सुनो। एक वासना सुषुप्ति है, दूसरी स्वप्न, तीसरी जाग्रत और चौथी क्षीण। स्थावर योनि को सुषुप्ति वासना है, सो आगे चेतेगी। तिर्यक्-योनि की स्वप्न वासना है, उनको वासना का ज्ञान भी नहीं। जङ्गम अर्थात् मनुष्य, देवता आदि को जाग्रत् वासना है। वे वासना ही में लगे हैं। ये तीन वासना तो अज्ञानी की हैं। और क्षीण वासना ज्ञानी की है अर्थात् उसको वासना की सत्यता नष्ट हो जाती है। जब इस प्रकार वासना निवृत्त होती है तब आगे संसार भी नहीं रहता। जब कुण्डलिनी शक्ति से वासना उठती है, तब पञ्चतन्मात्राओं के द्वारा संसार का भान होता है। संसाररूपी वृक्ष का बीज वासना ही है। इसी

दिशाएँ उस वृक्ष के पत्ते हैं. शुभ-अशुभ कर्म उसके फूल हैं और स्थावर-जंगम फल हैं। जैसी-जैसी वासना पुर्यष्टक से मिलकर जीव करता है, वैसा ही आगे फल होता है।

हे राम ! इससे वासना का त्याग करो। वासना ही संसाररूपी वृक्ष का बीज है और निर्वासनिक होना ही पुरुषप्रयत्न है। तब विश्व कदापि न भासित होगा। जैसे सूर्य के उदय होने पर अन्धकाररूपी रात्रि नहीं रहती, वैसे ही ज्ञानरूपी सूर्य के उदय होने पर संसाररूपी अन्धकार निवृत्त हो जाता है। हे राम ! आधि-व्याधि बड़े रोग हैं। वे मन से होते हैं। राम ने पूछा, हे भगवन् ! आधिरोग तो मन से होता है, पर व्याधि तो शरीर का रोग है; वह मन से कैसे होता है ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! व्याधि दो प्रकार की है। एक लघु और दूसरी दीर्घ। जो शरीर को कोई दुःख प्राप्त हो, उसे लघु कहते हैं। वह स्नान और जप से निवृत्त हो जाती है। दीर्घव्याधि जन्म-मरण के रोग को कहते हैं। वे बड़े रोग हैं और मन के शान्त हुए बिना निवृत्त नहीं होते। इसी से आधिव्याधि दोनों मन से होते हैं। फिर राम ने पूछा, हे भगवन् ! व्याधि मन से कैसे होती है ? वशिष्ठजी बोले, हे राम ! जब चित्त शान्त होता है, तब कोई रोग नहीं रहता। जब तक चित्त शान्त नहीं होता, तब तक आधिव्याधि होती है। जो कुछ अन्न बाहर अग्नि से परिपक्व होता है, उसको जब मनुष्य भोजन करते हैं तब भीतर जो कुण्डलिनी पुर्यष्टका से मिली हुई है, वह उदान पवन को ऊर्ध्वमुख हो उठाती है और अपान पवन उससे नीचे को उठता है। उदान और अपान का आपस में विरोध है—उनके क्षोभ से अग्नि उठती है और हृदयकमल में स्थित होती है। तब बाहर अग्नि का पका भोजन हृदय की अग्नि से फिर पकता है और सब नाड़ियाँ अपने-अपने भाग रस को ले जाती हैं। वीर्यवाली नाड़ी वीर्य को और रुधिरवाली नाड़ी रुधिर को रखती है। पर जब राग और द्वेष से चित्त कुण्डलिनी शक्ति में क्षोभ को प्राप्त होता है, तब नाड़ी अपने-अपने स्थानों को छोड़ देती हैं और अन्न भी भीतर पक्व नहीं होता। तब उस कच्चे रस से रोग

उठता है। जैसे राजा को क्षोभ होता है तो सेना को भी क्षोभ होता है और जब राजा को शान्ति होती है तब सेना को भी शान्ति होती है, वैसे ही जब मन में क्षोभ होता है, तब रोग होता है और जब मन में शान्ति होती है, तब नाड़ी अपने-अपने स्थानों में स्थित होती हैं—कोई रोग नहीं होता। इससे हे राम! आधिव्याधि रोग तब होते हैं जब मनुष्य का चित्त निर्वासनिक नहीं होता, पर जब चित्त शान्त होता है, तब रोग कोई नहीं रहता। इससे निर्वासनिक पद में स्थित हो।

राम ने पूछा, हे भगवन्! पीछे आपने कहा है कि मन्त्रों से भी रोग निवृत्त होता है, सो कैसे निवृत्त होता है? वशिष्ठजी ने कहा, हे राम! प्रथम मनुष्य को श्रद्धा होती है कि इस मन्त्र से रोग निवृत्त होगा, तब पुण्यक्रिया, दान, सन्तजनों की संगति और य, र, ल, व आदिक जो अक्षर हैं इनका जप करके (क्योंकि जितने कुछ जप और मन्त्र हैं सो इन अक्षरों से सिद्ध होते हैं) व्याधिरोग निवृत्त हो जाता है। योगीश्वरों का क्रम अणु और स्थूल है सो भी सुनो। जब ये प्राण और अपान कुण्डलिनी शक्ति में स्थित होते हैं तो इनको वश करके योगी गम्भीर होता है। जैसे मशक में पवन होता है इसी प्रकार पवन को स्थित करके कुण्डलिनी सुषुम्णा में प्रवेश करती है और ब्रह्मरन्ध्र में जा स्थित होती है। एक मुहूर्त पर्यन्त वहाँ स्थित हो तो मनुष्य आकाश में सिद्धियाँ देखता है। जिस प्रकार इसका क्रम है, वह भी तुमसे कहता हूँ। हे राम! सुषुम्णा के भीतर जो ब्रह्मरन्ध्र है, उसमें जब पूरक द्वारा कुण्डलिनी शक्ति स्थित होती है, अथवा रेचक प्राण वायु के प्रयोग से द्वादश अंगुल पर्यन्त मुख से बाहर अथवा भीतर या ऊपर एक मुहूर्त तक एक ही बार स्थित है, तब आकाश में सिद्धों का दर्शन होता है।

राम ने पूछा, हे ब्रह्मन्! जब ब्रह्मरन्ध्र में जीव-कला जाकर स्थित होती है, तो कैसे दर्शन होता है? दर्शन तो नेत्रों से होता है, सो नेत्र आदि इन्द्रियाँ कोई नहीं होतीं; नेत्रों बिना दर्शन कैसे होता है? वशिष्ठजी बोले, हे महाबाहु राम! पृथ्वी में विचरनेवालों को आकाश